नवमोऽध्यायः।



Salutations to Swami Tapovanam, who is *Maheshwara*—the Lord of *Soumyakashi*, who is of the nature of unbroken existence, auspiciousness, consciousness and the Absolute Reality. He is the Truth of all truths, which is experienced by the pure intellect alone and is the Supreme Lord—beyond *Pradhan (Prakriti)*.







श्रीमद्भगवद्गीता

(गीतामृतमञ्जूषा)

नवमोऽध्यायः

परमहंसपरिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द
सरस्वती महाराज का प्रसाद

गीतामण्डली
माधवीकुञ्ज
५०, शिवकुटी, पो० केवलरोलाइन्स
इलाहाबाद—४

प्रकाशक :
प्रोफेसर निशीथ कुमार तरफदार, बी० ई०
बिहार कॉलेज ऑफ इंजिनियरिंग
पटना—५ (बिहार)
मुद्रक :
नरेन्द्रकुमार प्राणलाल आचार्य
आचार्य मुद्रणालय
कर्णघण्टा, वाराणसी—१

प्राप्तिस्थान

१—अध्यक्ष, गीतामण्डली,
५० शिवकुटी, इलाहाबाद—४

२—श्री शिवशंकर स्वामी
२३ पुराना किला, लखनऊ

३—श्रीमती छबि बोस
३ ए/११ आजाद नगर, कानपुर

४—श्रीमती रमा मित्रा
११२/२४८ स्वरूपनगर, कानपुर

५—श्रीमती उमादानी
द्वारा श्री डी. आर. दानी, लक्ष्मी निवास, सिविल लाइन्स, मुरादाबाद

६—प्रो० निशीथ कुमार तरफदार बी० ई०
बिहार इंजिनियरिंग कालेज,
पटना ५ (बिहार)

७—डॉ० मदन मोहन,
रमा आई हॉस्पिटल,
१० कान्वेंट रोड, देहरादून

८—श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, एडवोकेट,
प्रभु टाऊन, रायबरेली

९—श्रीमती माधवी कर,
द्वारा डॉ. एच.एम. कर
सिविल सर्जन, मिर्जापुर

१०—श्री एस. सी. मित्र, १४ बी०, तिलक ब्रिज, आफिसर्स रेलवे कॉलोनी नगर, न्यू दिल्ली—१

११—श्री रामकुमार रस्तौगी
धामपुर (बिजनौर)

विज्ञप्ति

भगवान् की असीम कृपा से परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द सरस्वती महाराज द्वारा प्रणीत **"गीतामृतमञ्जूषा"** का **नवम अध्याय** प्रकाशित हो रहा है। इस अध्याय का नाम है **'राजविद्याराजगुह्ययोग'** अतः यह बहुत ही रहस्यपूर्ण अध्याय है। स्वामीजी ने प्रतिश्लोक के रहस्य का उद्‌घाटन सरल भाषा में इस प्रकार किया है जिससे पाठकवर्ग अनायास यथार्थ तत्त्व को समझ सकें।

जिन दानवीर महापुरुषों की सहायता से पीछले अध्यायों का प्रकाशन हुआ है, यह अध्याय भी उनकी सहायता से ही प्रकाशित हो रहा है। इसलिए गीतामंडली उनके प्रति बारंबार कृतज्ञता प्रकाश कर रही है।

इति

नृसिंह जयन्ती—संवत् २०२८ | श्रीनिशीथ कुमार तरफदार

ता० ८-५-१९७१ | सचिव, गीतामण्डली

इलाहाबाद।



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भगवद्गीता

नवमोऽध्यायः

"राजविद्याराजगुह्ययोगः"

अष्टमाध्याय में निर्दिष्ट किया गया है कि (सुषुम्ना) नाड़ी के द्वारा समस्त इन्द्रियरूप द्वारों के संयमद्वारा अर्थात् इन्द्रियोंको अपने अपने विषयों से निवृत्त कर हृदय, कंठ एवं भ्रूवों प्रभृति देश में चित्तको धारण करनेवाले योगी मृत्यु के पश्चात् अर्चिरादि (अग्नि, ज्योति आदि) मार्ग से ब्रह्मलोक में गमन करते हैं एवं वहाँ ज्ञान प्राप्ति कर क्रममुक्ति प्राप्त होते हैं। अब प्रश्न हो सकता है कि क्या यही केवल मुक्ति का उपाय है? —और कोई दूसरा उपाय नहीं है? इस शंका की निवृत्ति के लिये श्रीभगवान कह रहे हैं—

[मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि इस प्रश्न का उत्तर भगवान ने अष्टमाध्याय में 'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः, (गीता ८।१४) इत्यादि से दिया अर्थात् जो अनन्यचित्त होकर नित्य (यावज्जीवन निरन्तर) मेरा स्मरण करते हुए मेरे तत्त्वका साक्षात्कार कर (प्रत्यक्ष अनुभव) करते हैं उनको मैं (परमानन्दस्वरूप ब्रह्म) सुलभ हूँ (अर्थात् वे मुझको प्राप्त कर मुक्त होते हैं)। निरन्तर स्मरण करने के फल रूपसे जो मुक्ति प्राप्त होती है वह इस जन्म में भी हो सकती है, और नहीं तो मृत्यु के पश्चात् कालान्तर में भी हो सकती है। जिस अनन्यभक्त योगीने निरन्तर भगवत्स्मरण से जीवितावस्थामें ही तत्त्वज्ञान (आत्मस्वरूप भगवान का साक्षात्कार) प्राप्त

कर लिया वह तो जीवन्मुक्त ही हो जाता है एवं मृत्युके पश्चात् कालान्तर की अपेक्षा न कर परमात्मा में लीन होकर सद्योमुक्ति प्राप्त कर लेता है, और जो भक्तयोगी इस प्रकार योगधारणा में परिपक्व नहीं हुआ, वह प्राण के उत्क्रमण के पश्चात् (मृत्यु के पश्चात्) अर्चिरादि मार्गसे ब्रह्मलोक में गमन कर क्रममुक्ति प्राप्त होता है, यही शास्त्रोंका सिद्धान्त है ।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिये श्रीभगवान भगवद्भक्ति एवं भगवत्-तत्त्व का विस्तृत विवरण इस नवमाध्याय में दे रहे हैं। अष्टमाध्याय में ध्येय ब्रह्म का स्वरूप निर्णय कर ब्रह्म के (सगुण ब्रह्मके) ध्यान में जो भक्तयोगी निरत है उनकी क्या गति होती है यह कहा गया है । नवमाध्याय में ज्ञेय ब्रह्म का स्वरूप निर्णय पूर्वक ज्ञाननिष्ठ व्यक्ति की क्या गति होती है, उसे कहेंगे । इस अध्याय में जो ज्ञान के सम्बन्ध में कहा जायगा उसी ज्ञान की स्तुति अब तीन श्लोकों से की जा रही है ।]

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच—इदं तु विज्ञानसहितं गुह्यतमं ज्ञानम् अनसूयवे ते प्रवक्ष्यामि, यज्ज्ञात्वा अशुभात् मोक्ष्यसे ।

अनुवाद—श्रीभगवान् ने कहा तुम असूयाशून्य हो अर्थात् मुझ में दोष-दृष्टिहीन हो, इसलिए तुमको विज्ञान के साथ अर्थात् अनुभवयुक्त अपरोक्ष ज्ञानके साथ अति गोपनीय परमात्मविषयक ज्ञान के सम्बन्ध में कह रहा हूँ । इसे जान कर तुम अशुभ से (संसार बन्धन से) मुक्तिलाभ कर सकोगे ।

भाष्यदीपिका—इदं ज्ञानम्—यह ब्रह्मज्ञान, साधारणतः अपरोक्ष विषय को अर्थात् साक्षात् रूप से सामने विद्यमान पदार्थ को 'इदं' (यह) कहा जाता है । इस स्थल में ब्रह्मतत्त्व विषयक ज्ञान का अपरोक्षत्त्व नहीं रहने से भी ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में गीता के पूर्ववर्ती अध्यायों में भगवान् ने अनेक बार कहा एवं अब भी उसके सम्बन्ध में कह रहे हैं, इसलिए उस ज्ञानको ही अर्जुन की बुद्धि के सामने रखकर भगवान् ने 'इदम्' (यह) शब्द का व्यवहार किया है । तु—इस शब्द के द्वारा पूर्वाध्याय में कथित 'ध्येय' ब्रह्म-ज्ञानसे इस अध्याय के प्रतिपाद्य 'ज्ञेय' ब्रह्मज्ञान की विशेषता (वैशिष्ट्य अर्थात् वैलक्षण्य या पृथकत्व) सूचित किया गया है क्योंकि यह तत्त्वज्ञान साक्षात्

मोक्षप्राप्ति का साधन है तत्त्वज्ञान के प्रत्यक्षानुभव के विना केवल ध्यान से साक्षात् मोक्षप्राप्ति नहीं होती है, यही अब भगवानके कहने का अभिप्राय है। 'सभी वस्तु वासुदेव ही हैं' 'ये सभी वस्तु आत्मा ही है' 'यह आत्मा एक ही अद्वितीय है' इत्यादि श्रुति तथा स्मृति वचनों से अखण्ड अद्वय आत्मा का ज्ञान ही साक्षात् भाव से मोक्षप्राप्ति का हेतु है, यह प्रमाणित होता है। 'जो अज्ञानी पुरुष इस अद्वैत आत्मा से भिन्न अन्य किसी को अपना स्वामीरूप से जानते हैं अर्थात् मानते हैं, वे क्षयशील लोक प्राप्त होते हैं अर्थात् उनकी संसार में पुनरावृत्ति होती है (क्योंकि द्वैत वस्तुमात्र ही आत्मा में अज्ञान के द्वारा कल्पित हैं, अतः द्वैत (भेद) बुद्धि रज्जु में सर्पज्ञान के समान कभी भी कल्याण का हेतु नहीं हो सकती है)। श्रुति के वचनों के द्वारा भी यह प्रमाणित होता है कि इस अद्वैत ब्रह्मज्ञान के बिना दूसरा कोई उपाय साक्षात्रूप से मोक्ष का साधन नहीं हो सकता हैं, क्यों कि दूसरा कोई ज्ञान संसार के मूलीभूत अज्ञान की निवृत्ति नहीं कर सकता है। ध्यान अन्तःकरणशुद्धि को द्वार कर अर्थात् चित्तशुद्धि उत्पन्न कर तत्त्वज्ञान उत्पन्न करता है एवं उस तत्त्वज्ञान से मोक्ष प्राप्त हो सकता है। अतः ध्यान यथाक्रम से मोक्ष का जनक है और तत्त्वज्ञान साक्षात्रूप से मोक्षप्राप्त कराता है, यही ज्ञान की विशेषता है। इस वैशिष्ट्य को सूचित करने के लिए ही 'तु' शब्दका प्रयोग किया गया है। यह गुह्यतमम्—सर्वापेक्षा गोपनीय है (अति रहस्यपूर्ण) ज्ञान को विज्ञान-सहितम्—अनुभव के साथ अर्थात् (ब्रह्म या आत्मा का प्रत्यक्षानुभव या साक्षात्कार के सहित आनन्दगिरि कहते हैं कि यहाँ ज्ञान शब्द से ब्रह्मचैतन्य या ब्रह्मचैतन्यविषयक प्रभा रूप ज्ञान को सूचित कर रहा है। मधुसूदन सरस्वती के मत में 'सविज्ञानम्' शब्द का अर्थ है ब्रह्मानुभव पर्यन्तम्। अनसूयवे ते—असूया रहित तुम्हें। गुण में भी दोष आविष्करण को 'असूया' कहा जाता है। 'श्रीकृष्ण सर्वदा अपना ऐश्वर्य कीर्तन कर मेरे समीप अपनी प्रशंसा कर रहे हैं' इस प्रकार बहुगुणसम्पन्न श्रीकृष्ण में भी यदि अर्जुन का दोषदर्शन करने की प्रवृत्ति रहती थी तब अर्जुन 'असूयायुक्त' होते थे। यह असूया ऋजुता (सरलता) धैर्य तथा संयम का अभाव सूचित करती है। अतः असूयायुक्त व्यक्ति कभी भी शिष्य होकर गुरु से गोपनीय (रहस्यपूर्ण) तत्त्व के ग्रहण करने में अधिकारी नहीं हो सकता है। अर्जुन में ऐसा कोई दोष नहीं है, परन्तु शिष्य के लिए जितने गुणों की आवश्यकता है, वे सभी इनमें विद्यमान हैं। इस लिए अर्जुन को श्रीभगवान् अति गोपनीय तत्त्वज्ञान देने के लिये उद्यत हुए हैं—यही इस श्लोक में 'अनसूयवे ते' कहने का तात्पर्य है।

प्रवक्ष्यामि—प्रकृष्टरूप से कहूँगा (ताकि तुम्हारा इस विषय में कोई संशय न रहे)। इस ज्ञान को प्राप्त करने से क्या होता है यह कहा जा रहा है—**यत् ज्ञात्वा**—जिसे जानकर अर्थात् [जिस ज्ञानको प्राप्त कर] **अशुभात्**—(अशेषविध दुःखों के कारण) जो संसारबन्धन है उससे **मोक्ष्यसे**—कालान्तर की अपेक्षा न कर सद्य ही तुरन्त ही मुक्तिलाभ करोगे।

टिप्पणी (१) श्रीधर—

परेशः प्राप्यते शुद्धभक्त्येति स्थितमष्टमे।
नवमे तु तदैश्वर्यमत्याश्चर्यं प्रपञ्च्यते॥

आठवें अध्याय में कहा गया कि परमेश्वर शुद्ध भक्ति से प्राप्त होते हैं। अब नवम अध्याय में उनके अति आश्चर्यमय ऐश्वर्य का वर्णन विस्तार पूर्वक कर रहे हैं।

सातवें और आठवें अध्यायों में श्रीभगवान् ने कहा कि स्वीय परमेश्वर-तत्त्व भक्तिद्वारा ही अनायास प्राप्त हो सकता है—अन्य कोई दूसरा उपाय नहीं है। इस प्रकार कह कर अब अपने अचिन्त्य (मन से चिन्तन योग्य नहीं है ऐसा) ऐश्वर्य और भक्ति के असाधारण प्रभाव को विस्तार पूर्वक कह रहे हैं—

इदं विज्ञानसहितं गुह्यतमं ज्ञानम्—जिससे विशेष रूप से तत्त्व जाना जाता है वह विज्ञान अर्थात् उपासना है। उस विज्ञान (उपासना) के सहित गुह्यतम (अति रहस्यपूर्ण) ज्ञान अर्थात् ईश्वर विषयक ज्ञान **तु**—इस ज्ञान का विशेष (असाधारणता) सूचित करने के लिये 'तु' शब्द प्रयोग किया गया है। **अनसूयवे ते प्रवक्ष्यामि**—तुमको बताऊँगा क्योंकि तुम असूया दोष से रहित हो अर्थात् परम (अतिशय) कृपालु मुझमें "यह श्रीकृष्ण वारंवार अपने माहात्म्य का ही वर्णन कर रहे हैं" इस प्रकार दोषदृष्टि तुममें नहीं है। अतः तुमको उस ज्ञानका उपदेश दूँगा। इस ज्ञानको 'गुह्यतम' कहा गया है क्योंकि धर्मका ज्ञान गुह्य (गोपनीय) है, उस धर्म ज्ञानको अपेक्षा देहादि से व्यतिरिक्त (भिन्न) आत्मा का (जीवात्माका) ज्ञान गुह्यतर है। फिर उस आत्मज्ञान की अपेक्षा भी परमात्मा का ज्ञान अति रहस्यपूर्ण होने के कारण गुह्यतम है। **यज्ज्ञात्वा अशुभात् मोक्ष्यसे**—इस परमात्मज्ञान को जानकर अशुभ संसार चक्र से तत्काल ही मुक्त हो जाओगे।

(२) शंकरानन्द—जिसकी बुद्धि मन्द (मलिन) है उसके चित्तकी शुद्धि के लिये योगमार्ग से ब्रह्मप्राप्ति के लिये अध्यात्म आदि भेद से रहित अक्षर शब्द वाच्य ब्रह्म ही उपास्य है, यह उपदेश करके उसके उपासक योगी के अर्चिरादि मार्ग से गमन तथा (उसके फलरूप से) ब्रह्म की प्राप्ति का

प्रतिपादन अष्टम अध्याय में किया गया है। अधुना मुमुक्षु को इसी मार्ग से ही मोक्ष प्राप्ति होती है अन्य मार्ग से नहीं इस प्रकार शंका उपस्थित हो सकती है। उसी शंका को दूर करने के लिये अधिकारी शुद्धबुद्धि पुरुषों की यहीं मोक्षसिद्धि हो सकती है, यह प्रतिपन्न करने के लिये (१) साक्षात् मोक्ष के कारण परम ब्रह्मविषयक ज्ञान तथा विज्ञान का, (२) ब्रह्म के स्वरूपका तथा (३) प्रकृति द्वारा सृष्टि आदि कार्यों में परब्रह्म की साक्षिता, असंगता और उदासीनता आदि धर्मों का (४) उपासना के प्रकार के भेदों का (५) अपने सार्वात्म्य तथा अन्य विषयों का भी प्रतिपादन करने के लिये नवम अध्याय का आरम्भ किया जा रहा है। स्पष्ट भाव से प्रश्न उत्थापित न होने पर भी भक्तों के प्रति दयाविष्टचित्त (कृपालु) भगवान् स्वयं ही ज्ञान, विज्ञान और उनके माहात्म्य का प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं—

इदं ज्ञानं तु गुह्यतमम्-'परस्तस्मात्तु भावोऽन्यः' (उससे परे अन्य अर्थात् विलक्षण भाव है), 'पुरुषः स परः पार्थ' (हे पार्थ ! वह पुरुष पर अर्थात् श्रेष्ठ है), इत्यादि वाक्यों से पूर्व अध्याय में निर्विशेष ब्रह्म का निरूपण करके अर्जुन को ब्रह्म के सान्निध्य (समीप) में पहुँचा दिया, अतः ब्रह्म की विषयता भगवान् की अपने भक्तों के उपर अनुग्रह करने की इच्छा के वेग से अर्जुन की बुद्धि में आरुढ़ होने के कारण 'इदम्' (यह) शब्द से प्रत्यक्ष रूप से ब्रह्मज्ञान का निर्देश किया गया है। (ब्रह्म आत्मा का स्वरूप होने के कारण ब्रह्मज्ञान के लिये यमनियमादिक्लेशों का प्रयोजन नहीं होता है (क्योंकि अज्ञानरूप आवरण नष्ट होने पर वह स्वतः ही स्फुरित होता है) और यह ब्रह्मज्ञान ही साक्षात् भाव से मोक्ष का एकमात्र साधन है। इसलिये सगुण ब्रह्मज्ञान से निर्विशेष ब्रह्मज्ञान का विशिष्टत्व (श्रेष्ठत्व) प्रकाश करने के लिये 'तु' शब्द का प्रयोग हुआ है। सगुण ब्रह्म का ज्ञान ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान आदि भेद का सम्पादन कर अनर्थ का कारण होता है। वह अद्वितीय ब्रह्म साक्षात् रूप परमपुरुषार्थसिद्धि का कारण नहीं होता है। श्रुति भी यही कहती है, यथा—'येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति' जो उक्त आत्मदर्शन से विपरीत किसी को जानते है वे अन्य राजा का दास होते हैं एवं वे जो लोक प्राप्त करते है वह क्षयशील (विनाशशील) होता है। इस प्रकार श्रुति ब्रह्म में भेद देखने वाले अज्ञानियों का ईश्वर के अधीन होना और जन्म आदि बन्धन से युक्त (बद्ध) होना बताती है। यहाँ 'इदं तु' पदद्वारा 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है) इस श्रुति वाक्य से सिद्ध होता है कि (इस अध्याय में वक्ष्यमाण) यथार्थ ज्ञान ब्रह्म को प्राप्त

करने वाला है। इसलिये बन्धन का हेतुस्वरूप सगुणब्रह्म ज्ञान से विलक्षण निर्विशेष ब्रह्मज्ञान अपनी उत्पत्ति के अनन्तर ही मोक्ष का हेतु होता है, अतः उसकी उत्कृष्टता 'इदं तु' पद से सूचित की गई है। 'तु' शब्द से कही गई उत्कृष्टताको स्पष्ट कर रहे हैं—

विज्ञानसहितम्—अपरोक्षानुभव को विज्ञान कहते हैं। 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'अहं ब्रह्मास्मि' (ब्रह्म ही यह सब है, मैं ब्रह्म हूँ) इत्यादि श्रुतियों में कही गई रीति से सबको और अपने को प्रत्यक्षरूप से ब्रह्ममात्रत्व जानना ही विज्ञान है—पाताल में सूर्य ग्रहण है, इस प्रकार तटस्थ पदार्थका जानना विज्ञान नहीं है। जिस प्रकार कहा गया है उस प्रकार के लक्षणवाले विज्ञान से युक्त ज्ञान साक्षात् मोक्षका हेतु है। इसीलिये ब्रह्मज्ञान की विशेषता वर्णन करते हैं—

गुह्यतमम्—कायसिद्धि, अष्ट ऐश्वर्यों की सिद्धि आदि योगाचरण करने वाले के जो मन्त्र, तन्त्र, औषधि आदि रहस्य हैं उन सब रहस्यों से (गुह्यों से) भी यह गुह्यतम (परम गोपनीय अर्थात् उत्कृष्ट) है। इसीलिये जिस किसी अयोग्य दुर्गुणी को देना नहीं चाहिए। किन्तु जिस की आत्मा (मन) शुद्ध है ऐसे पुरुष को ही देने योग्य है; यह सूचित करने के लिये कहते हैं—

ते अनसूयवे—अपर व्यक्ति के दोषों का आविष्कार (प्रकट) करना असूया है। 'असूया' शब्द से यहाँ काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्षा आदि को भी उपलक्षण कर सूचित किया गया है। अतः असूया आदि दुर्गुण जिसमें नहीं है वह 'अनसूय' है। तुम सद्गुण सम्पन्न हो एवं मेरा शिष्यत्व स्वीकार किया है, अतः मुझे असूयारहित होने के कारण तुमको यह गुह्यतम ज्ञान विज्ञान सहित कहूँगा अर्थात् पूर्णरूप से उपदेश दूँगा। इस ज्ञानको प्राप्त करने से मुझे क्या लाभ होगा, अर्जुन के इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—

यत् ज्ञात्वा अशुभात् मोक्ष्यसे—तीव्र मोक्षेच्छा, वैराग्य, शम दम आदि उत्तम साधनों से सम्पन्न होकर तुम, मैंने जैसा कहा, उस विशेषण विशिष्ट अर्थात् विज्ञान सहित ज्ञान को (जो ज्ञान ब्रह्म और आत्मा का एकत्व अनुभव कराता है उस ज्ञान को) जानकर (प्राप्त कर) इससे अपनी आत्मा के स्वरूप को प्राप्त होकर अशुभ से (अनादि अविद्या से उत्पन्न हुए संसाररूप दुःख के प्रवाह से) मुक्त होकर अखण्डानन्दैकरस ब्रह्मस्वरूप में सुख से अर्थात् विना क्लेश से स्वतः ही स्थित होओगे, यही कहने का अभिप्राय है।

(२) नारायणी टीका—ब्रह्मविद्या (ज्ञान) एवं परमतत्त्व का अनुभव (विज्ञान) सहस्र-सहस्र व्यक्तियों में एक दो भाग्यवान् व्यक्ति के हृदय में

ही प्रकट होता है (गीता ७।३) अन्य सभी के निकट यह अप्रकट या गुप्त ही रह जाता है। इसलिए अन्य सब ज्ञानों से श्रेष्ठ तथा रहस्यपूर्ण होने के कारण इसे गुह्यतम कहा जाता है। अतः इसे प्राप्त करने के लिए पहले योग्याधिकारी होना पड़ेगा। संस्कारगत दोषदृष्टि को अर्थात् गुण में भी दोष आविष्कार करने के स्वभाव को असूया कहा जाता है। यह जिसमें है उसमें चित्त की संस्कारगत मलिनता रहने के कारण वह ब्रह्मविद्या प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता है। असूयाशून्यता स्वभाव शुद्धि का अथवा संस्कार-शुद्धि का परिचय देता है। अतः ऐसा व्यक्ति ज्ञान का अधिकारी होता है। अर्जुन को असूयारहित देखकर भगवान् जिसे प्राप्त करने से सभी अनर्थपूर्ण संसार समुद्र से त्राण (मुक्ति) पाना सम्भव है उस विज्ञान (अनुभव) सहित ज्ञान (ब्रह्मविद्या) अर्जुन को कहेंगे, इस प्रकार की प्रतिज्ञा नवम अध्याय के आरम्भ में भगवान कर रहे हैं। ज्ञान विज्ञान में (अपरोक्ष ब्रह्मानुभव में) परिणत होना चाहिए क्योंकि परमात्मा के स्वरूप सम्बन्धीय ज्ञान परोक्ष भाव से गुरु तथा शास्त्र से जानकर निर्विकल्प समाधि से उस स्वरूप का अपरोक्ष साक्षात्कार करने पर अर्थात् विज्ञानलाभ करने पर साधक साधन बल से जीवन्मुक्ति—अवस्था लाभ करते है अर्थात् जीवितावस्था में ही संसार बन्धन से मुक्त होते है। अतः मृत्यु के पश्चात् तत्काल ही परमात्मा में लीन होकर सदा के लिये संसार चक्र से वे मुक्त हो जायेंगे, इस विषय में और संशय क्या रह सकता है। इसलिये अशुभ संसार से मुक्ति का साक्षात् कारण है 'विज्ञान सहित ज्ञान'। यही भक्तवत्सल भगवान् अपने शरणागत शिष्य अर्जुन को लक्ष्यकर सभी भक्तों के परम पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये अब अति कृपा पूर्वक कह रहे हैं।

[पूर्व श्लोक में उक्त ज्ञान की प्राप्ति के लिए आग्रह उत्पन्न करने के लिए पुनः उस ज्ञान की प्रशंसा कर रहे हैं।]

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

अन्वय—इदम् (आत्मतत्त्वज्ञानं) राजविद्या, राजगुह्यम्, उत्तमम्, पवित्रम्, प्रत्यक्षावगमम्, धर्म्यम्, कर्त्तुं सुसुखम्, अव्ययम् (च)।

अनुवाद—यह (आत्मतत्त्वज्ञान) सभी विद्याओं में श्रेष्ठ है; सभी रहस्यों में (गोपनीय तत्त्वों में उत्कृष्ट है अर्थात् सभी प्रकार के रहस्यों का सार है,

यह उत्तम है, पवित्र है, यह प्रत्यक्षानुभव योग्य है अर्थात् इस आत्मतत्त्वज्ञान को प्रत्यक्षरूप से अनुभव किया जाता है। यह धर्मसम्मत है, यह सुखसाध्य है (इसे सम्पादन करने में विशेष कोई कष्ट स्वीकार करना नहीं पड़ता) एवं यह अव्यय है अर्थात् इससे जो फल प्राप्त होता है उसका कभी भी क्षय या नाश नहीं होता है।

भाष्यदीपिका—इदम्—यह ब्रह्मविद्या राजविद्या—समस्त विद्याओंमें श्रेष्ठ है (राजते प्रकाशते इति राजा) ब्रह्मविद्या सभी विद्याओं में राजा है क्योंकि ब्रह्मविद्या सब विद्याओं में अतिशय देदीप्यमान है। ब्रह्मविद्या का प्रकाश होने पर मूलसहित समग्र अविद्यारूप अन्धकार का नाश होता है किन्तु अन्य कोई विद्या की ऐसी सामर्थ्य नहीं है। इस कारण से सर्वविद्याओं में यह श्रेष्ठ है। राजगुह्यम्—सभी प्रकार गुह्य (गुप्तरखने योग्य) विषयों में यह राजा (श्रेष्ठ) है। अनेक जन्मों से संचित पुण्य के फलरूप से ही यह ब्रह्मविद्या किसी किसी के हृदय में प्रकाशित होती है। अतः अनेक लोगोंसे ही यह ज्ञान गुप्त या अज्ञात रहता है। इसलिए यह अतिगुप्त रहस्य होने के कारण यह गुप्त विषयों का राजा है। ['राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य परनिपातः, अर्थात् तत्पुरुष समास में उपसर्जनीभूत (गुणीभूत) जो पूर्वपद है वह बाद में बैठता है, जिसप्रकार दन्तराज नहीं होकर 'राजदन्त' होता है। इस नियम के अनुसार इस स्थल में भी 'विद्याराज' या 'गुह्यराज' पद नहीं होकर विद्या तथा गुह्य पद बाद में बैठकर 'राजविद्या' तथा 'राजगुह्य' पद हुए हैं (मधुसूदन)] उत्तमं पवित्रम्—उत्कृष्टतम पावन (पवित्रकर या शुद्धिकर) है अर्थात् यह ब्रह्मविद्या जितनी भी पवित्रकर वस्तुएँ हैं उनकी भी शुद्धि का कारण होती है। इस लिए उसको उत्कृष्टतम (सर्वोत्तम) पवित्र वस्तु कहा जाता है। अनेक सहस्र जन्मों के संचित धर्म तथा अधर्म इत्यादि कर्म उनके अज्ञानरूप मूलके साथ जिस ब्रह्मज्ञान के उदय होने से ही क्षणमात्र में भस्मीभूत हो जाते हैं उस ब्रह्मज्ञान की पवित्रता के सम्बन्ध में और क्या कहना है ? [कहने का अभिप्राय यह है कि प्रायश्चित्तादि के द्वारा कोई विशेष पाप की ही निवृत्ति (नाश) होती है किन्तु उस पापका मूल कारण सूक्ष्मरूप से रह ही जाता है एवं इस लिए लोग पुनः पापकर्म करने लगते हैं। किन्तु ब्रह्मविद्या के उदय होने से मूल अविद्या (अज्ञान) का नाश होनेके कारण वह ब्रह्मविद्या सहस्रसहस्र-जन्मों से संचित (एवं स्थूल तथा सूक्ष्मरूप में अवस्थित) सभी प्रकार के पापों का नाश कर देती है। इसलिए प्रायश्चित्तादिरूप पवित्रकर कर्मों की भी सूक्ष्मावस्थाका एवं उनके मूलकारण जो अविद्या है उनका भी ब्रह्मज्ञान से नाश

हो जाता है, इस लिए भाष्य में ब्रह्मविद्या को सभी पावन (पवित्रकर) वस्तु की भी शुद्धि का कारण कहा गया है। अतः ब्रह्मविद्या से अधिक पवित्र वस्तु और दूसरी कुछ भी नहीं है, इसलिए इसे उत्तम (उत्कृष्टतम) पवित्र वस्तु कहा गया है। गीता में अन्यत्र भी कहा गया है—'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्र-मिह विद्यते' (गीता ४।३८) अर्थात् इह लोक में ज्ञान के समान और कोई भी पवित्र वस्तु नहीं है। शंका हो सकती है कि ब्रह्मज्ञान अतीन्द्रिय है अर्थात इन्द्रिय का विषय नहीं है, अतः इसके स्वरूप तथा फल के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया वह तो श्रुति तथा स्मृति के वाक्यों से ही जाना जाता है। किन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों से वह सिद्ध नहीं हो सकता है। इसके उत्तरमें कहा जा रहा है—प्रत्यक्षावगमं—सुखादि के समान इस ब्रह्मज्ञान का अवगम अर्थात् अनुभव प्रत्यक्ष होता है। अभिप्राय यह है कि धर्म भी अतीन्द्रिय है, अतः धर्म के स्वरूप तथा फल केवल शास्त्र प्रमाण से ही जाने जाते हैं, उनका प्रत्य-क्षानुभव होना सम्भव नहीं है। अतः धर्म के सम्बन्ध में किसी-किसी का संशय भी रह सकता है किन्तु ब्रह्मज्ञान केवल शास्त्रों से ही जाना जाता है यह बात नहीं, इसका स्वरूप प्रत्यक्ष किया जा सकता है एवं इसका फल भी प्रत्यक्ष होता है।

[(क) जिसके द्वारा अवगत होना सम्भव है (जानना सम्भव है) वह अवगम अर्थात् प्रमाण है।

(ख) अथवा जिसे जाना जाता है। वह अवगम अर्थात् फल है। अतः पहले अर्थ से जो प्रत्यक्ष अवगम (प्रत्यक्ष प्रमाण के विषयभूत है वह 'प्रत्यक्षावगम' है अर्थात् ब्रह्मज्ञान का स्वरूप जो साक्षीचैतन्य है वह प्रत्यक्ष-गोचर है, यह कहा गया। दूसरे अर्थ से) जिसका अवगम (फल) प्रत्यक्ष है वह भी 'प्रत्यक्षावगम' है। इस अर्थ से ब्रह्मज्ञान का फल (अर्थात् अज्ञान का नाश तथा स्वरूप का बोध प्रत्यक्षगोचर हैं, यह कहा गया। जिस प्रकार "मैं इस विषय को जानता हूँ) इस कारण से इस विषय में मेरा जो अज्ञान था वह अब निवृत्त हुआ है," ऐसा अनुभव किसी इन्द्रिय विशेष के द्वारा न होने पर भी साक्षिचैतन्य से ऐसा प्रत्यक्ष (अपरोक्ष अनुभव) होता है, यह सर्वजन प्रसिद्ध है। अतः सभी विशेष विशेष ज्ञान जो ज्ञान के द्वारा प्रकाशित होते हैं वह ब्रह्मज्ञान स्वयं प्रत्यक्षावगम होगा इसमें और संशय क्या हो सकता है ? अब शंका होगी कि यह ब्रह्मज्ञान यदि सभी लोगों को ही अनुभवसिद्ध है तो अतीन्द्रिय धर्म से क्या यह कोई विरुद्ध वस्तु है ? द्वितीयतः बहुगुणों से युक्त वस्तु का भी धर्म से विरोध देखा जाता है, तब

क्या आत्मज्ञान भी ऐसी कोई वस्तु है ? उत्तर में कहा जा रहा है कि नहीं, आत्मज्ञान वैसा धर्म विरोधी नहीं है किन्तु—] धर्म्यम्—धर्म से अनपेत (अस्खलित) अर्थात् धर्म से युक्त (धर्ममय) है। अनेक जन्म तक निष्काम भाव से धर्म के अनुष्ठान के फलरूप से ही ब्रह्मज्ञान का उदय होता है। अतः ब्रह्मज्ञान के मूल में धर्म रहने के कारण वह धर्म से कभी भी स्खलित (भिन्न) नहीं हो सकता है। ["वेदोक्तसर्वधर्मफलत्त्वात् धर्म्यम्" अर्थात् यह ब्रह्मज्ञान वेदोक्त सर्वधर्म का फलरूप है इसलिए इसे 'धर्म्य' कहा गया है (श्रीधर)।] अब शंका होगी कि यदि ब्रह्मज्ञान इस प्रकार महत्त्वपूर्ण है तो उसका सम्पादन करना अवश्य ही अति कष्टकर होगा ! इसके उत्तर में कह रहे हैं—

सुसुखम् कर्तुम्—जिस प्रकार रत्न के सम्बन्ध में विवेक ज्ञान विना आयास से ही उत्पन्न होता है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान का सम्पादन भी अति सुख पूर्वक होता है अर्थात् अत्यन्त सुख से (अनायास) ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो सकता है। अभिप्राय यह है कि ज्ञान प्रमाण है एवं वस्तु के अधीन है; वह देश कालादि के व्यवधान को अपेक्षा नहीं रखता है। वस्तु के साथ प्रमाण तथा अनुभव का साधन (अर्थात् योग्य व्यक्ति का उपदेश एवं उस वस्तु के साथ इन्द्रियादि का संयोग) रहने से ही उस वस्तु के सम्बन्ध में ज्ञान उत्पन्न होता है। रत्न के सम्बन्ध में जो विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें ऐसा ही होता है, इसके लिए दूसरे किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती है। सद्गुरु का उपदेश एवं गुरु के द्वारा प्रदर्शित उपाय से (वेदान्त वाक्यों के विचार के द्वारा) इस ब्रह्मज्ञान का सम्पादन सुख से किया जाता है। अब संशय होगा—'अच्छा, संसार में तो ऐसा देखा जाता है कि जिस प्रकार कार्य में आयास अल्प है (अर्थात् जो अनायास साध्य है) तथा सुख से सम्पादित होता है उस कर्म का फल अल्प होता है, और दुष्कर (कठिनता से सम्पन्न होने वाले कर्म समूह का फल महान् देखा गया है। अतः इस नियम के अनुसार यह आत्मज्ञान भी सुख से संपादित होने के कारण इसका फल भी अल्प ही होगा। 'यदल्पं, तदमर्त्यम्, अर्थात् 'जो अल्प' है वह मरणशील (नाशवान) है, ऐसा श्रुतिवचन है (छा०उ०)। अतः ब्रह्मज्ञान भी विनाशी ही होगा ! ऐसी आशंका की निवृत्ति करने के लिए कह रहे हैं—

अव्ययम्—फल का क्षय होने के कारण कर्म जिस प्रकार विनाशी होता है ब्रह्मज्ञान का वैसा विनाश नहीं हो सकता है। इसलिए यह अव्यय है अर्थात् यह अनायास साध्य होने पर भी फल की ओर से इसका व्यय

अर्थात् अपचय (हानि या नाश) नहीं होता है। इसलिए यह अव्यय है अर्थात् इसका फल अक्षय (अविनाशी) है। [कर्म जितना ही महत् हो उसका फल अचिरस्थायी (विनाशी) है, यह श्रुतिवाक्य से भी प्रमाणित होता है। यथा 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिन् लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि सहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति' (बृह० उ० ३।८।१) अर्थात् हे गार्गि ! जो व्यक्ति इस अक्षर पुरुष को न जानकर अनेकों सहस्र वर्ष पर्यन्त इहलोक में दान करता है, यागयज्ञादि करता है अथवा अनेक दिनों से तपस्याचरण करता रहता है उसका वे कर्म अन्तवान् ही (विनश्वर ही) हैं। अतः आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये ही सब प्रकार से प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि मनुष्य जीवन में इससे उत्कृष्टतर और कोई प्राप्त करने योग्य वस्तु नहीं है। (मधुसूदन)]

टिप्पणी। (१) श्रीधर—इदं राजविद्या राजगुह्यम्--अधिकन्तु यह ज्ञान विद्या का राजा एवं गोपनीय (गुप्त रखने योग्य) विषयों का भी राजा है अर्थात् सभी विद्याओं में तथा गुप्त रखने योग्य विषयों में यह अत्यन्त श्रेष्ठ है। 'राजदन्तादिषु परम्' (पा० सू० २।२।३१) इस सूत्र के अनुसार विद्या तथा गुह्य शब्द की उपसर्जन संज्ञा कर पर निपात हुआ है। अर्थात् विद्याराज और गुह्यराज इस प्रकार न होकर राजविद्या एवं राजगुह्यम् हुए हैं। अथवा यह विद्या राजाओं की विद्या तथा राजाओं का गुह्यभाव है, इस कारण यह अत्यन्त श्रेष्ठ है। उत्तमं पवित्रम्—तथा यह उत्तम (सर्वोत्कृष्ट) पावन (पवित्रकर) है और प्रत्यक्षावगमम्—इसका अवगम (बोध या अनुभव) प्रत्यक्ष (स्पष्ट) है। और धर्म्यम्—यह धर्म से अनपेत (ओत-प्रोत) है क्योंकि इससे समस्त धर्म का फल मिल जाता है। तथा कर्तुं सुसुखम्—इस धर्मका सम्पादन अत्यन्त सुख पूर्वक किया जा सकता है। और अव्ययम्—इसका फल अक्षय (अविनाशी) है।

(२) शंकरानन्द—पूर्वश्लोक में उक्त ज्ञान के ग्रहण करने की इच्छा अर्जुन के मन में जाग्रत करने के लिये भगवान् उस ज्ञान के माहात्म्य का प्रतिपादन करते हैं—

इदं राजविद्या—विद्या शब्द का अर्थ है ज्ञान। सकल वेद तथा शास्त्रादि अध्ययन करने से इस लोक एवं परलोक के साधन रूप से जितने ज्ञान उत्पन्न होते हैं वे सभी पुरुष के संसार को बढ़ाने वाले ही हैं—संसार को निवृत्त करने वाले नहीं हैं। ब्रह्मविद्या तो केवल अपनी उत्पत्ति से ही ब्रह्म-

स्वरूपता प्राप्त कराकर कारणसहित संसार को (संसार एवं उसके मूल कारण अज्ञान को) निःशेष निवृत्त कर देती है जैसा जागरण स्वप्न के संसार एवं उसके दुःख को निवृत्त (नष्ट) कर देता है। अतः ब्रह्मविद्या समस्त विद्याओं में राजा (श्रेष्ठ) है, इसलिये इसे राजविद्या कहते हैं। अथवा शास्त्रों से उत्पन्न हुई सभी विद्याएँ पूर्णरूप से अहंकार की वृद्धि कर आत्मतत्त्व को आवृत करती है किन्तु यह ब्रह्मविद्या तो 'स आत्मा, तत्त्वमसि' (वह आत्मा तुम ही हो) इस महावाक्य के श्रवण मात्र से उत्पन्न होकर देहेन्द्रियादि रूप अनात्मा में जो अहंकार (अज्ञान) विद्यमान है उसे नष्ट करके सम्पूर्ण संसार धर्मों से निर्मुक्त आत्मत्त्व को प्रकाशित करती है अतः वह विद्याओं में रानी (राज्ञी) है, इसलिये राजविद्या कहते हैं यह राजगुह्यम्—गुह्य शब्द का अर्थ है गोपनीय। मन्त्र, यन्त्र, दिव्य औषधि आदि पदार्थ अथवा अमूल्य रत्नादि गोपनीय है, उन सभी में अतिरहस्य होने के कारण ब्रह्मविद्या गुह्य (गोपनीय—रक्षणीय) होने से वह राजा है, इसलिये उसे राजगुह्य कहते हैं अथवा राजा के समान संवरण करने योग्य (गोपनीय) होने से राजगुह्य है। फिर वह उत्तमं पवित्रम्—जो पवित्र करता है वह पवित्र जगत् में जितनी पवित्र करने वाली वस्तु है उनमें यह ब्रह्मविद्या सर्व श्रेष्ठ पवित्र है। सूर्य, अग्नि, वायु आदि देवता, ऋक् आदि वेद, गंगा आदि नदियाँ और अशेष प्रायश्चित्त आदि की सेवा करने वाले मनुष्यों के नरक रूप दुःख के कारण पापों को ही नष्ट करते हैं—उसमें भी तात्कालिक पापों को ही नष्ट करते हैं, पुण्यों को नहीं किन्तु यह ब्रह्मज्ञान तो 'तदा विद्वान् पुण्यपापं विधूय' अर्थात् विद्वान् पुण्य और पापको धोकर, इस श्रुति वाक्य से शतंकोटि ब्रह्मा के कल्पों से प्राप्त पापराशि का तथा पुण्य राशि का (जो बहुजन्म तक मरण एवं मरणजनित दुःख के प्रवाह का कारण होने वाले है उनका) अग्नि जैसे रुई के पर्वतों को, सूर्य जैसे अन्धकार राशि को नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार समूल निर्मूलन (कारण सहित नाश) करके ब्रह्मवित् को निष्कर्म (कर्म और कर्म फल से मुक्त) कर देता है, इस कारण ब्रह्मज्ञान ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि को और सूर्य आदि को पवित्र कर देता है, अतः यह सबकी अपेक्षा पवित्र है। अर्थात् सर्वोत्तम शुद्धिकर वस्तु है। प्रश्न होगा कि ब्रह्मज्ञान का यह माहात्म्य क्या केवल शास्त्र से जाना जाता है अथवा अन्य प्रमाण से भी जाना जाता है अथवा दूसरे काल से जाना जाता है ? उसके उत्तर में कहते हैं—नहीं, सूर्य जिस प्रकार कार्य सहित अन्धकार का नाश करता है, (किन्तु) वह केवल शास्त्र से ही नहीं

जाना जाता किन्तु प्रत्यक्ष से भी जाना जाता है। उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान का माहात्म्य भी प्रत्यक्ष से ज्ञात होता है। इसलिये कहते हैं—

प्रत्यक्षावगमम्—(१) जिससे जाना जाता है वह अवगम है अर्थात् प्रमाण। वह ब्रह्मविद्या भी विद्वान् के प्रत्यक्ष नामक प्रमाण के विषयभूत होती है अथवा (२) जिसका प्रत्यक्ष अवगम (ज्ञान) हो वह प्रत्यक्षावगम है अर्थात् ब्रह्मविद्या का प्रत्यक्ष ज्ञान विद्वानों को होता है। अथवा (३) जो जाना जाता है (अनुभव किया जाता है) वह अवगम है अर्थात् फल जिसका अवगम (फल) प्रत्यक्ष है वह प्रत्यक्षावगम है। भोजन आदि के सुख समान तत्क्षण ही ब्रह्मज्ञान का फल प्रत्यक्ष होता है, धर्म आदि के फल के समान परोक्ष नहीं। और धर्म्यम्—मोक्षकामी पुरुष के लिये यह ज्ञान धर्म के समान उपादेय है इसलिये इसे 'धर्म्यम्' कहा जाता है। यह ज्ञान सब आश्रम वालों के स्वधर्म के अनुकूल ही है, किसी के धर्म का विरोधी नहीं है, इसी दृष्टि से भी यह 'धर्म्य' है। यद्यपि अग्निचयनयुक्त सर्वतो मुखादि क्रतु गृहस्थ का धर्म्य है तथापि वह श्रम से साध्य है किन्तु ज्ञान ऐसा नहीं है, इसलिये कहते हैं— सुसुखम्—अनायास ही अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि के बिना ही रत्नादि के तत्त्व को जानने वाले पुरुष के प्रसाद (कृपा) से जिस प्रकार रत्नादि का ज्ञान होता है उसी प्रकार (ब्रह्मज्ञ पुरुष की कृपा से) ब्रह्मज्ञान भी प्राप्त होता है, अतः इस ज्ञानको कर्तुम्—बुद्धि में आरूढ़ करने के लिये आयास नहीं करना पड़ता अर्थात् शुद्ध अन्तः करणवाले पुरुषों के लिये बिना आयास के ही उसका सम्पादन करना सम्भव है। यदि शंका हो कि कमर के खुजलाने के समान ज्ञान भी अल्पक्रिया से साध्य होने के कारण उसका फल भी अल्प ही होगा क्योंकि जिस में क्रिया अधिक होती है उसका फल भी अधिक होता है और क्रिया स्वल्प होने पर फल भी अल्प होता है—यह तो सबके निकट ही प्रसिद्ध है, तो इसके उत्तर में कहा जायगा कि यह ठीक नहीं है, क्योंकि जो लोग चन्द्र का दर्शन करते हैं उन के लिए चन्द्रदर्शनजनित आह्लादरूप सुखका महत्त्व (आधिक्य) देखने में आता है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान अन्य प्रयास से साध्य (प्राप्य) होने पर भी फल से उसका महत्त्व है क्योंकि वह अव्ययम्— अव्यय (अविनाशी) है। जिस के फल का व्यय (नाश) नहीं होता है यह अव्यय फल वाला है। 'न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्' अर्थात् अध्रुवों से वह ध्रुव प्राप्त नहीं किया जाता, इस श्रुति के ज्ञान से जो वस्तु प्राप्त होती है उस का ध्रुवत्व सुना जाता है। इसलिये श्रम के बिना साध्य होने पर भी ब्रह्मज्ञान

नित्यफल का (अव्यय मोक्ष का) जनक है अथवा ज्ञान के मोक्षसाधनत्व में कोई बाधक प्रमाण न रहने के कारण उसे अव्यय कहा है।

(३) नारायणी टीका—प्रत्येक विद्या (धनुर्विद्या, सर्पविद्या इत्यादि) अधिकारी पुरुष को ही दी जाती है इसलिये सभी विद्या को अनधिकारियों से गुह्य (गुप्त) रखना पड़ता है। धनुर्विद्या इत्यादि से अध्यात्मविद्या और भी गोपनीय है क्योंकि विषयों से वैराग्यसम्पन्न न होकर एवं शास्त्रविहित अपने-अपने वर्णाश्रमानुकूल कर्म के निष्काम भाव से अनुष्ठान द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त न होनेपर अध्यात्मविद्या का अधिकारी कोई नहीं हो सकता। किन्तु ब्रह्मविद्या सभी अध्यात्मविद्याओं में भी राजा (सर्वश्रेष्ठ) होने के कारण राजगुह्य है (अति रहस्यपूर्ण है अतः अतिशय गोपनीय है) क्योंकि साधनचतुष्टयसम्पन्न उपयुक्त अधिकारी के बिना अन्य किसी को इस विद्या का उपदेश देना शास्त्र में निषिद्ध है। यह सभी विद्याओं का राजा है क्योंकि इस विद्या को प्राप्त करने से और कुछ अज्ञात नहीं रहता है (बृह० उ०) एवं इस विद्या से ही जगत् के सभी दुःखों का आत्यन्तिक नाश होता है। यह सर्वश्रेष्ठ पवित्रकर है क्योंकि पवित्रकर विशेष विशेष प्रायश्चित्तादि द्वारा विशेष विशेष पाप की निवृत्ति होती है किन्तु उन सब पापों के मूल कारण अविद्या, काम इत्यादि रहने के कारण वे सब पाप कर्म पुनः अनुष्ठित हो सकते हैं। किन्तु यह ब्रह्मज्ञान सहस्र सहस्र जन्मों से सञ्चित सभी पापों की स्थूल सूक्ष्मावस्था का तथा उन के भी कारण अज्ञान का सद्य (तत्काल ही) विनाश कर देता है। इस ब्रह्मविद्या की और भी विशेषता यह है कि इसके फलका प्रत्यक्ष रूप से इस जीवन में ही अनुभव किया जा सकता है, यज्ञादि कर्म के समान इसके फल के लिए कालान्तर की अथवा देशान्तर की (स्वर्गादि लोकों की) अपेक्षा नहीं करनी पड़ती है। यह 'धर्म्य' है अर्थात् इसके साथ धर्मका अविनाभाव सम्बन्ध है क्योंकि प्रथमतः बहु जन्मार्जित धर्म (पुण्य) कर्म के फल से ही ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होती है; द्वितीयतः, यह ब्रह्मविद्या ही सर्व धर्म के आधाररूप वेद का चरम प्रतिपाद्य विषय है एवं तृतीयतः, यज्ञादि कर्मका अनुष्ठान न करके केवल इस विद्या (ज्ञान) का पथ अवलम्बन करने से भी धर्म से च्युत नहीं होना पड़ता क्योंकि सभी यज्ञादि कर्म की परिसमाप्ति इस ज्ञान में ही होती है अर्थात् सभी शास्त्रीय कर्मों का अन्तिम फल है चित्त-शुद्धि द्वारा तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति। (गीता ४।३३)। इस ब्रह्म विद्या का सम्पादन अति सुख से अर्थात् अनायास ही होता है क्योंकि चित्त शुद्धि रहने पर गुरूपदिष्ट मार्ग से (वेदान्तशास्त्र का) महावाक्यादि के विचार के द्वारा ही यह विद्या विना

परिश्रम के प्राप्त की जा सकती है अर्थात् यज्ञादि के समान यह बहु आयास (परिश्रम) साध्य नहीं है। पुनः इसका फल भी महान् हैं क्योंकि अन्य सभी कर्म का फल विनाशी होता है किन्तु इस ब्रह्मविद्या का फल अव्यय है अर्थात् नित्य, अक्षय तथा अविनाशी मोक्ष है। अतः इस सर्वोत्कृष्ट विद्या को प्राप्त करने से ही जीवन सफल हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस लिए इस विद्या के प्रति सभी को ही श्रद्धा रखनी चाहिए, यही भगवान के कहने का अभिप्राय है।

[आत्मज्ञान रूप धर्म में जो लोग श्रद्धावान् होकर तन्निष्ठ (ज्ञाननिष्ठ) होते हैं वे लोग परमपद प्राप्त करते हैं, यह पूर्ववर्ती दो श्लोकों में कहा गया है। जिनकी आत्मज्ञान के प्रति श्रद्धा नहीं है अर्थात् जो आत्मज्ञान से विमुख हैं उन लोगों को संसारगति प्राप्त होती है अर्थात् उन लोगों को संसार में पुनः लौटना पड़ता है, यही अब श्रीभगवान् स्पष्ट रूप से कह रहे हैं—]

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

अन्वय—हे परन्तप ! अस्य धर्मस्य अश्रद्दधानाः पुरुषाः माम् अप्राप्य मृत्यु-संसारवर्त्मनि निवर्त्तन्ते।

अनुवाद—हे शत्रुतापन ! इस धर्म में जिनकी श्रद्धा (विश्वास) नहीं है वे पुरुष मुझे नहीं पाकर मृत्युमय संसार में प्रत्यावर्तन करते हैं अर्थात् जन्ममरणरूप संसार चक्र में भ्रमण करते हैं।

भाष्यदीपिका—हे परन्तप ! —हे अर्जुन ! अज्ञानरूप शत्रु को तुम दमन करने में समर्थ हो क्योंकि तुम श्रद्धावान एवं मेरे परमभक्त हो। अतः अब जो अश्रद्धाशील नास्तिकों की गति के सम्बन्ध में कह रहा हूँ उससे तुम्हें भयभीत होने का कोई कारण नहीं है—इसे ही कहने के अभिप्राय से अर्जुन को भगवान् ने 'परन्तप' कहकर सम्बोधन किया।

अस्य धर्मस्य—[इस आत्मज्ञानरूप धर्म का स्वरूपसाधन तथा फल शास्त्र में विस्तार से वर्णित होने पर भी तद्विषय में।] 'ध्रियन्ते अनेनेति धर्मः' अर्थात् जिसके द्वारा सब कुछ धृत रहता है उसे धर्म कहा जाता है। ज्ञान में ही सभी वस्तु स्थित रहती है, ज्ञान के विना कुछ भी जाना नहीं जाता इसलिए यहाँ 'धर्म' शब्द का अर्थ ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान है। **अश्रद्दधानाः पुरुषाः**—जो लोग श्रद्धाशून्य हैं

अर्थात् जो लोग अशुद्धचित्त होने के कारण नास्तिक हैं तथा कुतर्क में रत रहते हैं, वे वेदविरोधी होकर वेद का प्रामाण्य नहीं स्वीकार करते किन्तु देहेन्द्रियों को ही आत्मा मान कर सर्वदा पापकार्य में आसक्त रह कर असुर के समान देह तथा इन्द्रियादि की प्रीति सम्पादन में ही निरत रहते हैं। ऐसे शास्त्रवाक्यों में श्रद्धाहीन व्यक्ति गण अर्थात् आसुरी सम्पत् से सम्पन्न हो कर पापकर्म करने वाले पुरुष गण अपनी बुद्धि से कल्पित उपाय द्वारा किसी प्रकार प्रयत्न करते रहते हुए भी शास्त्रविहित उपाय का आश्रय न लेने के कारण माम् अप्राप्य—मुझ सर्वात्मा परमेश्वरको प्राप्त नहीं हो कर [मुझ को प्राप्त करना तो दूर की बात है, मुझे प्राप्त करनेका जो अन्यतम उपाय है उपास्य-उपासकरूप भेदबुद्धि से मेरी भक्ति, उसे भी न पाकर (मधुसूदन)] मृत्यु-संसारवर्त्मनि—मृत्युयुक्त संसार का वर्त्म (पथ) में अर्थात् जिस योनि में जन्म लेने पर मोक्षलाभ करने का अधिकार नहीं रहता किन्तु केवल मृत्यु ही उसकी गति होती है, इस प्रकार मृत्युयुक्त संसार की तिर्यक् प्रभृति हीन योनियों की प्राप्तिरूप मार्ग में वे निवर्तन्ते—निश्चयरूपसे आवर्तन करते हैं अर्थात् पुनः पुनः जन्ममरण से युक्त हीन योनियों में ही चक्कर लगाते रहते हैं। [वे आत्मज्ञान से वञ्चित होकर बारम्बार जन्म ग्रहण करते हैं एवं मरते हैं, यही कहने का अभिप्राय है।]

टिप्पणी। (१) श्रीधर—यदि यह विद्या इस प्रकार अत्यन्त सुख-साध्य है तो (इस विद्या को छोड़ कर) कौन मनुष्य संसारगति को प्राप्त होंगे ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—

(हे परन्तप !) अस्य धर्मस्य—इस भक्ति लक्षणयुक्त ज्ञान के सहित धर्म के प्रति (यहाँ कर्म में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है)। अश्रद्दधानाः पुरुषाः—श्रद्धाहीन पुरुषगण अर्थात् आस्तिकता बुद्धि से इसको स्वीकार (आदर) न करनेवाले लोग माम् अप्राप्य—मुझ को प्राप्त करने के लिए अन्य उपाय से प्रयत्न करते रहते हुए भी मुझे न पाकर मृत्युसंसारवर्त्मनि निवर्तन्ते—मृत्युयुक्त संसारमार्ग पर भ्रमण करने के लिए ही प्रत्यावर्तन करते हैं अर्थात् लौटते हैं [मृत्यु से व्याप्त हुए संसार मार्ग में (जन्म-मरणरूप संसार गति में) सब ओर भ्रमण करते रहते हैं]।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार ब्रह्मज्ञान अनायास प्राप्त हो सकता है तथा वह अव्यय फल का जनक है, यह प्रतिपादन कर के संसारदुःखरूप अन्धकार का निःशेष नाशक हेतु है वह ज्ञान जो सूर्य के समान विना प्रयास के लभ्य तथा सदा विद्यमान रहते हुए भी अन्ध के समान अश्रद्धा से

मुक्तिमार्ग को छोड़ कर कामनापूर्वक कर्म, उपासना आदि में प्रवृत्त हुए पुरुषों को देख कर आक्रोश करते हुए भगवान् दया से यह कह रहे हैं—

हे परन्तप! अस्य धर्मस्य—हे शत्रुतापन अर्जुन! उक्त गुणविशेषों से विशिष्ट धर्म के [अविद्या से जन्ममरणरूप प्रवाह में पतित हो रहे हैं ऐसे पुरुषों का जो धारण (उद्धार) करता है वह धर्म (अर्थात् ब्रह्मज्ञान) है, उस के अर्थात् मोक्ष के एकमात्र कारण ज्ञान के स्वरूप में एवं उस के फल मोक्ष में] अश्रद्दधानाः पुरुषाः—श्रद्धा न करने वाले [जो आस्था विशेष कर्म का हेतु होता है तथा फल-प्राप्ति तक रहता है वह श्रद्धा है—उस श्रद्धा से शून्य दुर्विदग्ध पुरुष (पूर्व) दुष्ट कर्मों के प्रभाव से मोक्ष तथा मोक्ष के साधन ज्ञान में श्रद्धा, भक्ति एवं प्रयत्न से रहित हो कर माम् अप्राप्य–मुझ आत्मा को अर्थात् हस्तगत आनन्दैक रस मोक्षाख्य फल को छोड़ कर मृत्युसंसारवर्त्मनि निवर्तते—मृत्यु से पूर्ण संसार में अर्थात् नाना योनि में और नरक में पुनः पुनः जो पतन होता है वही संसार है। इस प्रकार संसाररूप मार्ग (पथ) में पूर्णरूप से भटकता हैं अर्थात् बार-बार जन्म लेते हैं और मरते हैं। उन लोगों की मूर्खता ही अपार दुःख का कारण है। इस से यह सूचित होता है कि पूर्वोक्त महत्त्वविशिष्ट आत्मज्ञानरूप धर्म में जो अति श्रद्धा तथा निष्ठावान् हैं, वे ही मुक्त होते हैं।

(३) नारायणो टीकाः—पूर्व श्लोकोक्त राजविद्या या ब्रह्मज्ञान को धर्म कहा गया है। जिसने सबको धारण कर रखा है वही यथार्थ धर्म है [ध्रियते अनेन इति धर्मः]। शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा को अधिष्ठान करके ही विश्वप्रपञ्च का खेल हो रहा है। अतः सत्-चित् आनन्द स्वरूप आत्मा का ज्ञान ही यथार्थ धर्म का फल है सुख और आत्मज्ञान रूप परम धर्म का फल है परमसुख अर्थात् इस परमधर्म रूप आत्मा में सतत स्थित रहने से परमानन्दप्राप्ति और दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। वहीं जीवन का भी चरम फल अर्थात् पूर्ण सफलता है क्योंकि केवल मनुष्य ही नहीं बल्कि सभी प्राणी निरन्तर सुःख या आनन्द ही चाहते हैं—दुःख कोई नहीं चाहता। इस आत्मधर्म की प्राप्ति के लिये कोई दूसरी वस्तु की अपेक्षा नहीं करना पड़ता है कारण कि आत्मा तो अपना स्वरूप ही है और प्रति अणु-परमाणु में सदा ही विद्यमान है। इस लिये श्री भगवान् ने पूर्ववर्ती श्लोक में कहा—'सुसुखं कर्तुम्' अर्थात् आत्मज्ञान (अथवा आत्मसाक्षात्कार) अनायास साध्य है। श्रुति भी कहती है—'साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' [यह ब्रह्म (आत्मा) साक्षात् अपरोक्ष है—बृ० उ०]। आत्मा सबसे निकट है तथापि इसको अज्ञानो लोग

देखने में समर्थ नहीं होते हैं क्यों कि वे बहिर्मुख होने के कारण बाह्य विषयों को ही देखते हैं और सब से अन्तरतम आत्मा उनके लिये दूर ही दूर रह जाता है। इस लिये श्रुति कहती है—'तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥' (ई० उ०) अर्थात् यह आत्मा अज्ञानी तथा अश्रद्धावान् पुरुष से बहुत दूर रहने पर भी ज्ञानी की दृष्टि से वह अति निकट है क्योंकि आत्मा सभी के अन्तर तथा बाहर में पूर्ण रूप से विद्यमान है। ज्ञानस्वरूप आत्मा को ज्ञान से ही जाना जाता है। आत्मज्ञान ही परम धर्म है किन्तु श्रद्धा के बिना यह आत्मज्ञान प्राप्त हो नहीं सकता। इस लिये श्री भगवान ने पहले ही कहा है—'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः' (गीता ४।३९)। श्रद्धा चित्त शुद्धि के बिना उत्पन्न नहीं होती। शास्त्र वाक्यों में विश्वास एवं अपने वर्णाश्रम के अनुकूल एवं शास्त्रविहित कर्मों के अनुष्ठान के बिना चित्तशुद्धि नहीं होती। अतः जो वेदादि शास्त्रों का अनादर कर अपने कल्पित उपायों से पूजा, पाठ इत्यादि भी करते हैं वे भी यथार्थ मार्ग पर चलने में समर्थ नहीं होते हैं। वे सांसारिक विषयों में सत्यत्व बुद्धि रख कर कर्मकाण्डी, द्वैतवादी होकर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध में ही आसक्त रहते हैं क्योंकि उनमें ही वे सुख समझते हैं; वेदान्त शास्त्रादि में श्रद्धाहीन होने के कारण श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन में उन की रुचि नहीं रहती है और यदि उन सब शास्त्रों का श्रवण या पठन कर भी ले तो उस का अर्थ विपरीत (उलटा) समझते हैं, अतः फल भी विपरीत होता है अर्थात् श्रद्धारहित होने के कारण वे आत्मसाक्षात्कार करने में समर्थ नहीं होते हैं एवं इस लिये आत्मज्ञानरूप परम धर्म तथा उस धर्म का फल परमानन्दरूप मोक्ष की प्राप्ति से वञ्चित होकर मृत्यु से परिव्याप्त संसार रूप वर्त्म में (पथ में) निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं अर्थात् बारंबार संसार में जन्म लेते हैं एवं मरते हैं। आत्म ज्ञानरूप धर्म से सर्वात्मा ब्रह्म स्वरूप वासुदेव जब तक प्राप्त नहीं होता तब तक संसार में आवागमन की निवृत्ति नहीं होती है—यही कहने का अभिप्राय है।

[भगवान ने जो ज्ञान के विषय में कहने की प्रतिज्ञा किया उसे श्रद्धावान् व्यक्ति प्राप्त कर के संसार से मोक्ष लाभ कर लेते हैं एवं श्रद्धाशून्य व्यक्ति गण परमात्मा को प्राप्त न होकर जन्म मृत्यु के प्रवाह में घूमते रहते हैं, इस प्रकार श्रद्धावानों की स्तुति तथा अश्रद्धावानों की निन्दा कर आत्मज्ञान की महिमा प्रतिपन्न करने से अर्जुन इस आत्मज्ञान के सम्बन्ध में श्रवण

करने के लिए अभिमुख (आग्रहान्वित) हुआ इस पर भगवान् अपना स्वरूप (ब्रह्मस्वरूप) अपने मुख से वर्णन कर रहे हैं]—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

अन्वय—अव्यक्तमूर्तिना मया इदं सर्वं जगत् ततम्, सर्वभूतानि मत्स्थानि, न च अहं तेषु अवस्थितः ।

अनुवाद—अव्यक्तमूर्ति से मैं इस समस्त जगत को व्याप्त कर अवस्थान कर रहा हूँ । सभी भूत ही मुझ में स्थित हैं किन्तु मैं उन में स्थित नहीं हूँ ।

भाष्यदीपिका—अव्यक्तमूर्तिना मया—अव्यक्त मूर्ति मेरे द्वारा । जिस की मूर्ति (स्वरूप) व्यक्त नहीं है अर्थात् इन्द्रियों द्वारा अगोचर है (इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता है) उसके द्वारा [जो अनवच्छिन्न (अनन्त) तथा निरुपाधिक है (सभी प्रकार की उपाधियों से रहित हैं) उस सत्ता को 'अव्यक्तमूर्ति' कहा जाता है । (आनन्दगिरि) । मेरी अव्यक्त मूर्ति ही मेरा परम भाव है (स्वयंप्रकाश अद्वितीय है परमानन्दघन शुद्ध चैतन्य स्वरूप पारमार्थिक सत्ता है) । उसके द्वारा भगवान की जो (परिच्छिन्न) मनुष्य मूर्ति अर्जुन देख रहा था वह केवल मायिक थी एवं वह उनका वास्तविक स्वरूप नहीं है, यह स्पष्ट किया गया है, क्योंकि सोपाधिक परिच्छिन्न (सीमित) मूर्ति के द्वारा समस्त दृश्यमान जगत् व्याप्त होना असम्भव है ।]

इदं सर्वं जगत्—यह परिदृश्यमान जगत् । अज्ञान के कारण जिस प्रकार रज्जु खंड में सर्प, जल धारा, दंड, माला प्रभृति भाव कल्पित होते हैं उसी प्रकार यह जगत् अर्थात् स्थावर जंगम भूतसमूह मुझ में अज्ञानवश कल्पित होकर प्रतीत हो रहे हैं । वे परिदृश्यमान भूतसमूह मेरी उक्त अव्यक्त मूर्ति द्वारा अर्थात् मेरी परमार्थ सत्ता द्वारा ततम्—व्याप्त हैं । अधिष्ठान रूप से विद्यमान रज्जु की सत्ता तथा स्फुरण से जिस प्रकार भ्रान्ति से कल्पित सर्प जल धारा प्रभृति की सत्ता तथा स्फुरण प्रतीत होते हैं अर्थात् रज्जु का अस्तित्व रहने के कारण रज्जु में कल्पित सर्प प्रभृति सत् (अस्ति) अर्थात् 'है' ऐसा प्रतीयमान होते हैं एवं रज्जु का स्फुरण अर्थात् प्रकाश (ज्ञानग्राह्यता) रहने के कारण सर्प भी 'चित्' (भाति) अर्थात् 'प्रकाशित हो रहा है' ऐसा प्रतीत होता है, उसी प्रकार जगत् भ्रान्ति का एकमात्र अधिष्ठान के रूप में वर्तमान शुद्ध चैतन्य स्वरूप मेरी ही सत्ता से समस्त जगत् सत्तायुक्त है

(अस्ति) एवं मेरे ही स्फुरण या प्रकाश से जगत् प्रकाश युक्त (भाति) है, ऐसा प्रतीत होता है। अतः मुझको छोड़कर उनकी कोई पृथक् सत्ता या स्फुरण नहीं है, इस लिए मैं इनके अणु परमाणु में सर्वत्र व्याप्त हूँ। चुँकि मेरी ही सत्ता से एवं स्फुरण से सब कुछ सत् तथा प्रकाश युक्त प्रतीत होता है अतः—

सर्वभूतानि मत्स्थानि—ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सभी भूत ही अव्यक्त मूर्ति मुझ में अवस्थान कर रहे हैं। मैं ही सभी भूतों की आत्मा हूँ; उस आत्मस्वरूप मेरे द्वारा ही समस्त कल्पित वस्तु व्याप्त हुई हैं, इस लिए वे सभी ही मुझ में स्थित हैं। ऐसा कहने में व्याप्य-व्यापकत्व भाव रहने के कारण जगत् तथा भगवान् दोनों ही परिच्छिन्न (सीमित) है ऐसी शंका हो सकती है। उस शंका का निराकरण करने के लिये कहा जायगा कि सभी वस्तु जब भगवान में उनकी सत्ता से अभिन्न रूप से स्थित हैं तब भगवान व्यापक होने पर भी अद्वैत तत्त्व की हानि नहीं होती है अर्थात् भगवान् में कोई परिच्छिन्नता रूप दोष उपस्थित नहीं होता है। चूँकि सब भूतों की मैं ही आत्मा हूँ अतः मूढ़बुद्धि व्यक्तिगण सोच सकते हैं कि मैं भी उन वस्तुओं का आश्रय कर उनमें स्थित रहता हूँ किन्तु यह सम्पूर्ण भ्रान्त धारणा है क्योंकि—

न च अहं तेषु अवस्थितः—मैं सभी कारणों का कारण होने पर भी घटादि कार्य में मृत्तिका (मिट्टी) जिस प्रकार विद्यमान रहती है उस प्रकार से मैं सभी भूतों में अवस्थान नहीं करता हूँ। मूर्त (परिच्छिन्न) मृत्तिका रूप वस्तु से उत्पन्न हुई परिच्छिन्न घटरूप वस्तु के अणु परमाणु में जिस प्रकार मृत्तिका व्याप्त होकर स्थित रहती है उस प्रकार मैं नहीं रहता हूँ। क्योंकि असीम (अपरिच्छिन्न) आकाश सर्व व्यापी होकर भी किसी वस्तु से कभी संश्लिष्ट नहीं होता है उसी प्रकार मैं भी किसी वस्तु से संश्लिष्ट (संयुक्त) नहीं होता हूँ कारण मैं तो आकाश का भी अन्तरतम हूँ। इस लिये श्रुति कहती है—"असंगोऽयमात्मा" (यह आत्मा का किसी के साथ संग नहीं होता है क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त अन्य वस्तु की पारमार्थिक सत्ता ही नहीं है। आत्मा के किसी वस्तु से संसर्ग न रहने के कारण वह कभी किसी का आधेय नहीं हो सकता है अर्थात् संगहीन वस्तु कहीं भी आधेय भाव से स्थित नहीं होती, यह प्रसिद्ध है। जगत् के दृश्यमान भूतवर्ग सभी ही अज्ञान से सच्चिदानन्दघन अनन्त (अपरिच्छिन्न) आत्मा में कल्पित होता है। अधिष्ठान रूप आत्मा से भिन्न उनकी कोई पृथक् सत्ता नही है। वे भ्रम से प्रतीत होने के कारण मिथ्या ही हैं। अतः आत्मा उसमें अवस्थान नहीं करता। रज्जु में कल्पित सर्प का रज्जु के बिना कोई

अस्तित्व नहीं है किन्तु रज्जु सर्प में स्थित नहीं है क्योंकि सर्प कोई वस्तु नहीं है। कल्पित तथा अकल्पित में कोई पारमार्थिक (वास्तविक) सम्बन्ध नहीं रह सकता और यदि कोई सम्बन्ध प्रतीत होता है तब वह सम्बन्ध भी कल्पित (अतात्त्विक अर्थात् मिथ्या) ही है। इस लिए भगवान् शंकराचार्यने वेदान्तदर्शन के अध्यासभाष्य में कहा है कि—'यत्र यदध्यस्तं तत्कृतेन गुणेन दोषेण अणुमात्रेणापि न सम्बध्यते' अर्थात् यदि किसी अधिष्ठान में कोई वस्तु अध्यस्त (आरोपित) हो तो उस आरोपित पदार्थ के गुण अथवा दोष के द्वारा वह अधिष्ठान अणु मात्र भी संस्पृष्ट (लिप्त) नहीं होता है। जगत् मिथ्या, कल्पित (आभास अथवा भ्रममात्र) है, सभी भ्रमों का एकमात्र अधिष्ठानस्वरूप सच्चिदानन्द आत्मा ही सत्य है, इस तत्त्व को ही स्पष्ट करने के लिए भगवान् ने कहा—सब कुछ मुझ में ही स्थित है किन्तु मेरा परमार्थतः किसी वस्तु के साथ संयोग नहीं हैं, अतः मैं किसी भो नामरूपात्मक वस्तु में स्थित नहीं हूँ।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—जो ज्ञान के सम्बन्ध में प्रसंग उपस्थित हुआ है उस ज्ञान की स्तुति के द्वारा श्रोता को सम्मुख कर के उस ज्ञान के विषय में अब दो श्लोकों द्वारा कहते हैं—

मया अव्यक्तमूर्तिना—जिस की मूर्ति (स्वरूप) अव्यक्त है (अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रियाँ जिस को विषय नहीं कर सकती हैं), ऐसे सर्व कारणों के कारणरूप मुझ परमात्मा से **सर्वम् इदं जगत् ततम्**—यह समस्त जगत् व्याप्त है। **सर्वभूतानि मत्स्थानि**—श्रुति कहती है—'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, अर्थात् जगत् की सृष्टि कर के वह परमात्मा उसी में प्रविष्ट हो गया। इस लिए मुझ कारणस्वरूप में समस्त चराचर (स्थावर जंगम) प्राणी स्थित रहते हैं। **अहं च न तेषु अवस्थितः**—ऐसा होने पर भी जिस प्रकार अपने कार्यरूप घटादि में मृत्तिका (मिट्टी) रहती है, उस प्रकार मैं उन प्राणियों में नहीं रहता हूँ क्योंकि आकाश जिस प्रकार सर्व व्यापी हो कर भो असंग (समस्त पदार्थों के संसर्ग से मुक्त अर्थात् निर्लिप्त) रहता है उसी प्रकार मैं भी स्वरूपतः असंग हूँ।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार ज्ञान की सुलभता, सर्वोत्तमता तथा दुर्भाग्य (भाग्यहीन) पुरुष के लिए अलभ्यता का प्रतिपादन कर पूर्व में 'परस्तस्मात्तु भावोऽन्यः, (गीता ८।२०), 'यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्' (गीता ८।२२), इत्यादि जो कहा गया है, अब उसे ही अर्थात् परब्रह्म के स्वरूप के ज्ञान का तथा विज्ञान का डेढ़ श्लोक से प्रतिपादन करते हैं—

मया अव्यक्तमूर्तिना—मुझ अव्यक्त मूर्ति से। जो किसी प्रमाण से व्यक्त (बोध के योग्य) नहीं होता है वह अव्यक्त है अर्थात् अप्रमेय है (प्रमाणों का विषय नहीं है)। इस प्रकार अव्यक्त मूर्ति या स्वरूप वाले मुझ से [(प्रश्न) तुम जो कह रहे हो कि तुम किसी प्रमाण से नहीं जाने जा सकते वह युक्त नहीं है क्यों कि 'त्वं त्वौपनिषदम्' (अर्थात् उपनिषदों से जानने योग्य उस पुरुष को) इत्यादि श्रुतिवचनों से, ब्रह्म श्रुतियों से जानने योग्य तो है ही ? (उत्तर) नहीं, इस प्रकार कहना युक्त नहीं है क्योंकि ब्रह्म यदि सर्वथा अगोचर (अविषय) होता तो श्रुति भी उस का (ब्रह्म की) बोधक नहीं हो सकती थी। अस्थूलम् (स्थूल नहीं, ह्रस्व नहीं) इत्यादि से सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ का निषेध करके जो निषेध का विषय नहीं है (अर्थात् सभी का निषेध करते करते जिस का अन्त में और निषेध करना सम्भव नहीं होता है) एवं जो समस्त दृश्य से विलक्षण है वही ब्रह्म है, ऐसा बोधन श्रुति करती है—साक्षात् (दृश्यरूप से) 'यह ब्रह्म है' ऐसा बोधन नहीं करती है [यही अव्यक्त (अविषय, अप्रमेय) शब्द का तात्पर्य है]।

(प्रश्न) — अच्छा, 'सत्यं ज्ञानम्' (सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप) 'आनन्दो ब्रह्म' (ब्रह्म आनन्दस्वरूप है), इत्यादि श्रुति सत्यादि स्वरूप ब्रह्म है ऐसा बोधन करती है ?

(उत्तर) — नहीं, इस प्रकार की उक्ति युक्त नहीं है क्योंकि उन वाक्यों से श्रुति यही प्रतिपादन कर रही है कि ब्रह्म असत् दृश्य वस्तु से विलक्षण (पृथक्) है। कारणसहित जगत् मिथ्या, जड़ और दुःखस्वरूप है—यह प्रत्यक्ष है। अतः विपरीत धर्मविशिष्ट ब्रह्म में जगत् की विलक्षणता अर्थतः सिद्ध है। उसी असत् (जगत) से ब्रह्म की विलक्षणता का उपदेश करने के लिये श्रुति 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'आनन्दो ब्रह्म' (ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं अनन्तस्वरूप है, आनन्दो ब्रह्म है) इत्यादि वचनों से ब्रह्म का यथार्थ परिचय देती है—साक्षात् ब्रह्म यह है, ऐसा उपदेश श्रुति ने नहीं किया क्योंकि श्रुति वाणीरूपा है किन्तु ब्रह्म वाणी की वृत्ति का विषय नहीं है अतः यह सिद्ध हुआ है कि ब्रह्म प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से व्यक्त (विषयाकृत) नहीं होता है। इस प्रकार मुझ निर्विशेष अव्यक्तमूर्ति ब्रह्म से **इदं सर्वं ततम्**—यह सब जगत् व्याप्त है। जैसा रूपविशिष्ट सभी जड़ द्रव्य सर्वत्र सूर्य के आलोक से व्याप्त हो कर ही चक्षु से गृहोत होते हैं किन्तु उस से अव्याप्त हो कर गृहीत नहीं हो सकते हैं, वैसे ही मुझ एक चित (चेतन) स्वरूप से बाहर भीतर सर्वत्र व्याप्त हो कर ही सब जगत् सब इन्द्रियों के व्यवहार के योग्य होते हैं, मुझ से अव्याप्त हो कर नहीं, क्यों कि 'तस्य भासा

सर्वमिदं विभाति' (उस के प्रकाश से यह सब भासता है), इस श्रुति वाक्य से यही प्रमाणित होता है कि सारा जगत् स्वयं निरात्मक (सत्ताहीन) और अप्रकाशरूप है। इस लिए यह सब जगत् मुझ से सर्वत्र व्याप्त हो कर प्रकाशित हो रहा है। इस से सब जगत् का जो प्रकाशक है, वह ब्रह्मस्वरूप मैं हूँ—ऐसा ज्ञान का उपदेश दिया जाता है। फिर **मत्स्थानि सर्वभूतानि**—सभी भूत अर्थात् अव्यक्त महत्तत्त्व से लेकर स्थूल तक चर तथा अचर सभी वस्तु 'मत्स्थानि' अर्थात् मुझ अव्यक्त मूर्ति में स्थित हैं। जैसे जल में तरंग बुद्बुद आदि जल की सत्ता से सत्तावान् होकर जल में स्थित रहते हैं या जैसे नगर में रहने वाले दर्पण की सत्ता से सत्तावान् होकर नगरवासी दर्पण में स्थित रहते है, वैसे ही सब प्राणी मेरी सत्ता से सत्तावान् हो कर मुझमें स्थित रहते हैं। श्रुति भी कहती है—'सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः, अर्थात् ये सब सत् आयतन वाले और सत्प्रतिष्ठा वाले हैं। इस से ब्रह्म ही समस्त भूतों का आधार (आश्रय) है, इस ज्ञान का उपदेश दिया गया। 'परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः' (गीता ८।२०) अर्थात् उस अव्यक्त से (प्रकृति से) सनातन अव्यक्त भाव (परब्रह्म) उत्कृष्ट है, इस श्लोक में अव्यक्त से परमात्मा पर (उत्कृष्ट) है यह कह कर भगवान् ने जो अपना उत्कृष्टत्व एवं अव्यक्त का निकृष्टत्व कहा था उसी को फिर स्पष्ट करने के लिए कार्यसहित अव्यक्त का व्याप्यत्व और आधेयत्व के कारण निकृष्टत्व तथा अपना व्यापकत्व एवं आधारत्व के कारण उत्कृष्टत्व प्रदर्शन कर इस प्रकार व्याप्यव्यापक भाव से और आधार-आधेय भाव से भेद को स्वीकार करने पर (१) भेद का यथार्थत्व, (२) भेददर्शी मुमुक्षुओं के मोक्ष का अभाव एवं (३) अद्वैत श्रुतियों के साथ विरोध का प्रसंग उपस्थित होता है। अतः उस विरोध का परिहार करने के लिए 'अर्थात् आदेशो नेति नेति' (इस लिये 'नेति नेति' आदेश है) 'न सन्नासन्नसदसत्' (न सत्, न असत् और न सदसत्) इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म का अद्वितीयत्व सिद्ध करने के लिये समस्त दृश्य पदार्थ का निषेध करते हैं। यह निषेध सभी श्रुतियों में प्रसिद्ध है। **न च अहं तेषु अवस्थितः**—[यहाँ 'च' शब्द अवधारणार्थ में (निश्चयार्थ में) प्रयोग हुआ है]। उन में अर्थात् अव्यक्तादि से ले कर स्थूल तक (ब्रह्मा से ले कर स्तम्ब तक भूतों में) मैं कूटस्थ, असंग, चिद्रूप परमात्मा सब के भीतर प्रवेश कर के आत्मा के रूप से अथवा व्यापक रूप से स्थित नहीं हूँ। घर में वायु के समान, बिल में सर्प के समान, लोहे के पिण्ड में अग्नि के समान मैं विकारी के सदृश उन सब भूतों में प्रवेश कर के अथवा व्यापक होकर स्थित नहीं हूँ। विकारी वायु का

घर में अथवा अग्नि का लोहपिण्ड आदि में प्रवेश और व्याप्ति हो सकती है किन्तु आकाश के सदृश अविकारी, निरवयव, असंग, अक्रिय मुझ परिपूर्ण ईश्वर का (मुझसे पृथक्) किसी वस्तु में प्रवेश या व्याप्ति नहीं हो सकती। (शंका) क्यों, जैसे आकाश घट में प्रवेश कर घटाकाशरूप से स्थित होता है वैसे ही आप की भी भूतों में प्रवेश कर स्थिति हो सकती है। (समाधान) नहीं, वैसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि घट के मध्य में आकाश का प्रवेश हुआ है वैसी कल्पना भ्रम ही है, कारण निरवयव का चलन सम्भव नहीं है। (शंका) श्रुति में तो कहा है–'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (उसे उत्पन्न करने के पश्चात् उस में प्रवेश किया)। अतः इस प्रकार श्रुति वाक्यों में ब्रह्म का भूतों में प्रवेश कहा गया है। (समाधान) नहीं, इस प्रकार सिद्धान्त युक्त नहीं है क्योंकि उक्त श्रुतिवाक्य का तो आभास ही विषय है (अर्थात् चित्स्वरूप ब्रह्म का आभास रूप से जो जगत् प्रतीत हो रहा है उसके सम्बन्ध में उक्त श्रुति कह रही है) ब्रह्म को विषय कर के इस प्रकार कहना सम्भव नहीं है। 'निष्कलं निष्क्रियम्', 'असंगो न हि सज्जते', 'आकाशवत् सर्वगतः', 'पूर्णमदः' (ब्रह्म निष्कल अर्थात् अंशशून्य एवं निष्क्रिय हैं, ब्रह्म असंग है अतः किसी से आसक्त नहीं होता है, वह आकाश के सदृश सर्वगत और वह पूर्ण है) इत्यादि श्रुति वाक्यों से ब्रह्म का निरवयत्व, निष्क्रियत्व, असंगत्व तथा पूर्णत्व सुनने में आता है। इस लिये ब्रह्म की किसी वस्तु में प्रवेशरूप क्रिया अथवा व्यापनरूप क्रिया अथवा किसी के साथ संयोग अथवा अन्य कोई सम्बन्ध सम्भव नहीं है। अतः यह सिद्ध हुआ कि मैं (परमेश्वर) भूतों में प्रविष्ट होकर स्थित नहीं हूँ।

(३) नारायणी टीका :—जो लोग ज्ञाननिष्ठा के अनधिकारी हैं उनको कैसी गति प्राप्त होती है? यह कह कर अर्जुन को ज्ञाननिष्ठा में श्रद्धावान् तथा असूयारहित समझ कर उनको सन्मुख करके श्री भगवान् ब्रह्म-ज्ञान कहते हैं। भगवान की दो मूर्तियाँ है—(१) साकार मूर्ति। भक्त लोक साधन की प्रथम अवस्था में अनन्त निराकार मूर्ति को धारण करने में समर्थ नहीं होते हैं क्योंकि अनादि काल से मन परिच्छिन्न नामरूपात्मक विषय के चिन्तन में ही अभ्यस्त हुआ है। अतः भगवान का ध्यान करने के लिये कोई परिच्छिन्न (सीमित) रामकृष्णादि नामरूपात्मक मूर्ति का आश्रय करना साधक के लिये अनिवार्य होता है। अतः यह साकार मूर्ति को ध्येय ईश्वर कहा जाता है। यह भी कल्पित ही है परन्तु मन उसी मूर्ति में एकाग्र होने पर सभी कल्पना से मुक्त होकर आत्मसंस्थ होता है, इस लिये इस प्रकार

मूर्ति कल्पित होने पर भी पुरुषार्थसिद्धि में (मोक्षप्राप्ति में) इसकी सार्थकता को कोई भी बुद्धिमान पुरुष अस्वीकार नहीं कर सकता। शास्त्र में भी कहा है—'साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना'। ध्येय ईश्वर की उपासना से किस प्रकार क्रममुक्ति होती है ! यह अष्टमाध्याय में विस्तारपूर्वक वर्णित हुआ है। किन्तु यह साकार मूर्ति सर्व जगत् को व्याप्त कर स्थित नहीं रह सकती है क्योंकि परिछिन्नत्व और सर्वव्यापित्व परस्पर विरुद्ध धर्म है। साकार मूर्ति का श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक ध्यान कर मन एकाग्र होने पर निराकार ब्रह्म में पहुँच जाता है—वही ज्ञेय (जानने योग्य) ईश्वर या आत्मा है जिसका साक्षात्कार होने पर भव सागर से मुक्ति होती है। वह निराकार स्वरूप ही भगवान की अव्यक्त मूर्ति है क्योंकि किसी इन्द्रिय से उसका ग्रहण नहीं हो सकता बल्कि सभी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि जब पूर्ण रूप से शान्त (निरुद्ध) होते हैं तब वह स्वतः ही प्रकट होती है। यह अव्यक्त मूर्ति ही भगवान का सच्चिदानन्दघन परम भाव है (गीता ८।२०-२३)। इस अव्यक्त मूर्ति या परम भाव से ही समस्त जगत् (दृश्य प्रपञ्च) व्याप्त होकर स्थित है। भगवान का इस अनन्त, निराकार, सच्चिदानन्द स्वरूप अव्यक्त मूर्ति के अतिरिक्त और जो कुछ है वह सब मायारचित हैं, अतः कल्पित है। जैसे रज्जु में अज्ञान से कल्पित सर्प सर्वत्र रज्जु से ही व्याप्त रहता है अर्थात् रज्जु के बिना उसकी कोई पृथक् सत्ता ही नहीं है, उसी प्रकार भगवान की अव्यक्त मूर्ति को (यथार्थ स्वरूप को) आश्रय कर जो कल्पित जगत् दृश्य प्रत्यक्ष हो रहा है वह भगवान् की सत्ता तथा प्रकाश से ही व्याप्त हैं। जो जिससे व्याप्त है वह उसमें ही स्थित रहता है अर्थात् अध्यस्त वस्तु सदा ही अधिष्ठान की सत्ता से सत्तावान् एवं उस के प्रकाश से प्रकाशित होती है। इसलिये भगवान् कहते हैं—'मत्स्थानि सर्वभूतानि' अर्थात् सभी भूत वर्ग मुझ परमात्मा में स्थित हैं। परन्तु 'न च अहं तेषु अवस्थितः' अर्थात् मैं उन सब में स्थित नहीं हूँ क्योंकि वे सभी कल्पित (मिथ्या) हैं अर्थात् उन सब दृश्य पदार्थों का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। अतः मेरा उनके साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध रहना असम्भव है। कल्पित सर्प रज्जु में अज्ञान के कारण अध्यस्त है—जब तक सर्प प्रतीत होता रहता है तब तक वह रज्जु के बिना और अन्य कुछ नहीं है, अतः रज्जु में ही वह स्थित है। किन्तु अध्यस्त सर्प कोई वस्तु न होने के कारण रज्जु सर्प में स्थित नहीं रहता है अथवा कल्पित सर्प के गुण या दोषों से रज्जु कभी स्पृष्ट नहीं हो सकती। उसी प्रकार मैं भी मुझ में अज्ञान से कल्पित दृश्य जगत् के गुण-दोषों से

संस्पृष्ट नहीं होता हूँ, क्योंकि मैं स्वरूपतः असंग हूँ, यही कहने का अभिप्राय है। श्लोक में 'अव्यक्तमूर्तिना' शब्द के द्वारा सर्वात्मा भगवान का सर्व प्रपञ्चरहित, अद्वैत, निराकार, शुद्ध स्वरूप को सूचित किया जा रहा है क्योंकि गीता में भगवान् की विश्वमूर्ति या विश्वरूप (एकादश अध्याय में) एवं मानुषी मूर्ति (गीता ११।५०-५१) भी आगे अर्जुन को दिखायेंगे। मानुषी मूर्ति को ध्येय मूर्ति (Individual aspect of God) कही जाती है। ध्यान परिपक्व होने पर भगवान की सत्ता सर्वत्र अनुभूत होती रहती है। यही भगवत् कृपा से दिव्यचक्षु की प्राप्ति है (गीता ११।८) एवं इस प्रकार दिव्यचक्षु से ही भगवान के विश्वरूप (विश्वमूर्ति) का साक्षात्कार होता है। इसको Universal aspect of God कहा जाता है। और सर्वत्र एक ही परमात्मसत्ता का दर्शन करते करते सर्व वृत्तियाँ जब ब्रह्ममय होकर निरुद्ध हो जाती हैं तब अव्यक्त स्वरूप का (Transcedental aspect of God का) साक्षात्कार होता है। प्रथम दो मूर्तियाँ मायिक हैं, अतः उनकी (उपासकों की) क्रममुक्ति होती है। और अव्यक्त मूर्ति मायातीत एवं नित्य, सत्य, शुद्ध, मुक्त स्वरूप है, अतः इनके उपासकों की (साक्षात्कार करने वाले की) जीवितावस्था में जीवन्मुक्ति का आनन्द एवं मृत्यु के पश्चात् सद्योमुक्ति प्राप्त होती है।

[प्रश्न होगा परमेश्वर भूतों में अवस्थान नहीं करने पर भी भूतवर्ग उसमें रहता है, अतः असंगत्व किस प्रकार सम्भव है ? उसके उत्तर में कहा जा रहा है कि जागतिक सभी वस्तुएँ कल्पित होने के कारण एवं 'मैं' भी असंग होने के कारण अपरिच्छिन्न मुझमें कोई कल्पित परिच्छिन्न वस्तु का संसर्गित्व सम्भव नहीं है। इस कारण से—]

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

अन्वय—भूतानि च न मत्स्थानि, मे ऐश्वरं योगं पश्य; ममात्मा भूतभावनः, भूतभृत्, न च भूतस्थः।

अनुवाद—फिर कल्पित भूतसमुह वास्तव में मुझमें स्थित नहीं हैं अर्थात् भूतगण मुझमें अवस्थित हैं, ऐसा प्रतीत होने पर भी वे वस्तुतः मुझमें नहीं हैं। मेरा ऐश्वरिक योग देखो; मेरी आत्मा सभी भूतों की उत्पादक (वर्धक) है तथा धारक भी है (अर्थात् भूतों की मैं ही सृष्टि या वृद्धि किया करता हूँ एवं उनको मैं ही धारण किया करता हूँ) तथापि मेरी आत्मा वस्तुतः

(परमार्थतः) भूतों के साथ सम्बन्धयुक्त नहीं है (अर्थात् भूतवर्ग को अवलम्बन कर मैं भूतों में स्थित नहीं रहता हूँ) ।

भाष्यदीपिका—भूतानि च न मत्स्थानि—ब्रह्मा से स्तम्ब तक भूत-समूह भी पारमार्थिक रूप से मुझमें (संयुक्त हो कर) स्थित नहीं हैं क्योंकि मैं असंग आत्मा हूँ, अतः किसी के साथ मेरा संयोग (संसर्गित्व) सम्भव नहीं है। श्रुति भी कहती है 'असंगो न हि सज्जते' अर्थात् आत्मा असंग है, इस कारण से आत्मा किसी वस्तु में सक्त (लिप्त) नहीं होती है। शराबादि में स्थित जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। वह जल के कम्पन से कम्पित होने पर भी आकाशस्थित सूर्य में जिस प्रकार जलजनित कम्पन नहीं है उस प्रकार मुझ को अधिष्ठान कर जो भूतवर्ग (अर्थात् दृश्यमान् जगत्) प्रतीयमान होता है, वह परमार्थतः मुझमें नहीं हैं क्योंकि वह कोई वस्तु नहीं हैं—वह मिथ्या ही हैं। यहाँ 'च' शब्द अवधारणार्थ में [अर्थात् किसी प्रकार से ही भूतसमूह मुझ में संयुक्त नहीं रहता है, इसे दृढ़रूप से समझाने के लिए] व्यवहृत हुआ है। प्रश्न है—अच्छा, तुम परमेश्वर यदि असंग-स्वभाव होओ तव पहले 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' (९।४) इत्यादि कहकर पुनः 'न च मत्स्थानि भूतानि' (९।५) ऐसी विरुद्ध बात तुमने क्यों कहा ? इस आशंका के उत्तर में कह रहे हैं—हे अर्जुन ! साधारण मनुष्य जिस प्रकार अविद्या के द्वारा अन्ध होकर तात्त्विक दृष्टि से शून्य हो कर भ्रम प्रमाद से मिथ्या वस्तु को सत्य एवं सत्य वस्तु को मिथ्या मानते हैं, उस प्रकार प्राकृत मानुषी बुद्धि को त्याग कर तुम—मे ऐश्वरं योगं पश्य—मेरे इस ईश्वरीय योग अर्थात् युक्ति (घटना) को देख अर्थात् मुझ ईश्वर के योग को अर्थात् यथार्थ आत्मतत्त्व को देख। [मधुसूदन सरस्वती के मत में योग शब्द का अर्थ है प्रभाव अथवा अघटन-घटनाचातुर्य (जो न होने वाली बात है, उस को कर के दिखाने का चातुर्य) 'अतः ऐश्वरं योगं' पद का अर्थ है परमात्मा की माया शक्ति के द्वारा अघ-टन को घटन करने का चातुर्य (पटुता)। उस योग को देखो। अभिप्राय यह है कि मैं किसी का भी आधेय नहीं हूँ (किसी वस्तु का अवलम्बन (आश्रय) कर स्थित नहीं हूँ) अथवा किसी का आधार भी नहीं हूँ। अतः कोई भी वस्तु के साथ मेरा संयोग नहीं रह सकता है, तथापि मैं समस्त भूतों में हूँ एवं समस्त भूत मुझमें हैं, ऐसी जो प्रतीति होती है, वह मेरा महान योग अर्थात् योगमाया का वैभव है। वह वैभव तर्क में आनेवाला नहीं है। मेरी योगमाया के वैभव से असम्भव भी सम्भव होता है।. अतः 'मत्स्थानि सर्व-भूतानि' और 'न च मत्स्थानि भूतानि' इस प्रकार का कथन कुछ भी विरुद्ध नहीं

है]। और एक आश्चर्य भी देखो—ममात्मा—मेरी (ईश्वर की) आत्मा। [प्रश्न होगा ईश्वर जब सर्वभूतों की आत्मा है तो 'मेरी' (ईश्वर की) 'आत्मा' यह कैसे कहा जाता है क्योंकि आत्मा अपने से कोई अन्य वस्तु ही नहीं है। इसके उत्तर में कहा जायगा कि लौकिक बुद्धि का अनुकरण करते हुए देहादि-संघात को आत्मा से पृथक् (करके फिर उसमें अहंकार का अध्यारोप करके 'मेरी आत्मा' ऐसा कहते हैं। आत्मा अपने आप से) पृथक् है ऐसा मानकर लोगों के समान अज्ञान पूर्वक ऐसा भगवान नहीं कह रहे हैं। [अभिप्राय यह है कि आत्मा की कोई पृथक् आत्मा नहीं हो सकती तथापी अज्ञानी पुरुष देहादि में आत्मबुद्धि कर के अपना 'मैं' को आत्मा से पृथक् समझ कर कहते हैं 'मेरी आत्मा'। इस प्रकार अज्ञानियों की बुद्धि का अनुकरण कर भगवान् भी कहते है 'मेरी आत्मा'। किन्तु भगवान् कभी आत्मा से अपने को पृथक् नहीं मानते हैं क्योंकि भगवान् सर्वज्ञ हैं अतः अपना स्वरूप कभी भी ये नहीं भूल सकते]। मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि भगवान् का अहम् (मैं) तथा आत्मा एक ही वस्तु है तथापि राहु और उनका मस्तक एक होने पर भी जैसा 'राहु का मस्तक' कहा जाता है उसी प्रकार व्यवहार दृष्टि का आश्रय कर भेदकल्पना करके 'मम आत्मा' इस प्रकार कहा गया है। [अथवा आत्मा शब्द का अर्थ है मन अर्थात् मनोमय संकल्प जिस को 'माया' कही जाती है। भगवान की वह संकल्पशक्ति अर्थात् माया ही 'भूतभावन' है (रामानुज)]

भूतभावनः—जो भूतों को उत्पन्न करता है अथवा उन्हें वृद्धि करता (बढ़ाता) है उसका नाम है 'भूतभावन'। 'मैं भूतभावन' हूँ, ऐसा कहने से अपने को सभी वस्तुओं का निमित्तकारण बतलाया। भूतभृत्—जो समस्त भूतों का धारण तथा पोषण करता है वह भूतभृत् है। 'मैं भूतभृत् हूँ' यह बात कहने में भगवान स्वयं ही समस्त भूतों का उपादानकारण है, यह कहा गया। असंग आत्मा का भूत वर्ग के साथ सम्बन्ध नहीं रहने पर भी कल्पना द्वारा कल्पित भूत समूह के साथ ऐसा सम्बन्ध हो सकता है अर्थात् 'भूतभावन' तथा 'भूतभृत' कहने में कोई विरोध नहीं होता है। इसलिए भगवान कह रहे हैं कि इस प्रकार लौकिक दृष्टि से 'मैं' जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण होने पर भी मेरा परमार्थ स्वरूप भूत तथा सच्चिदानन्दघन आत्मा असंग और अद्वितीय स्वरूप होने के कारण (मधुसूदन) परमार्थतः मैं **न च भूतस्थ**:—किन्तु भूतस्थ नहीं हूँ अर्थात् मैं वस्तुतः भूतों के साथ सम्बन्ध युक्त नहीं हूँ क्योंकि परमात्मा का भूतो में स्थित होना सम्भव नहीं है, यह पूर्ववर्ती श्लोक में स्पष्ट रूप से दिखलाया जा चुका है। सृष्टि, स्थिति, प्रलय

सब अज्ञान से ही प्रतीत होते हैं। ज्ञान का उदय होने से और द्वैत प्रतीत नहीं रहता है क्योंकि द्वैत वस्तु मात्र ही कल्पित (मिथ्या) हैं—'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' [मांडूक्य उप० गौड़ पादकारिका (आगम प्रकरण) १७–१८]। पारमार्थिक दृष्टि से तो 'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता' (मा० उ० वैतथ्य प्रकरण कारिका ३२) अर्थात् समस्त लौकिक तथा वैदिक व्यवहार अविद्या के द्वारा ही सम्पन्न होता है कारण परमार्थतः न तो प्रलय है, न तो सृष्टि ही है, न तो कोई बद्ध है और न कोई साधक, न कोई मुमुक्षु है और न कोई मुक्त है—एक अखंडाद्वय सच्चिदानन्द परमात्मा ही विद्यमान हैं उससे भिन्न और सभी ही कल्पित (माया) है। इस परम सत्य का प्रकाश करने के लिए श्री भगवान् ने कहा–'न च मत्स्थानि भूतानि' 'न च भूतस्थो' (९।५) 'न चाहं तेष्ववस्थितः' (९।४) इत्यादि। अभिप्राय यह है कि एक अखंड अद्वितीय परमात्मा (जिनमें सजातीय, स्वगत, विजातीय किसी प्रकार का भेद सम्भव नहीं रहने के कारण जो सर्व प्रकार द्वैतभाव से शून्य हैं वे) न तो किसी वस्तु का आधार (अधिष्ठान) है और न तो आधेय हैं। जिस प्रकार स्वप्नद्रष्टा निजकल्पित स्वप्न दृश्य के द्वारा अथवा मायावी (जादुगर) जिस प्रकार अपनी माया से सृष्ट वस्तु के द्वारा किसी प्रकार से ही संसृष्ट सम्बद्ध (लिप्त) नहीं होता है, उसी प्रकार परमात्मा भी अपनी माया के द्वारा सृष्ट भूतों से संसृष्ट नहीं होते हैं।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—न च मत्स्थानि भूतानि—मैं असंग हूँ, इसी कारण प्राणिगण मुझमें स्थित नहीं हैं। प्रश्न होगा कि तुमने तो पहले ही कहा था कि तुम सभी विश्व में व्यापक हो तथा सर्वभूतों का आश्रय हो किन्तु तुम अब जो बता रहे हो उसके साथ तो तुम्हारा पूर्व कथन विरुद्ध होगा। इस शंका का निवारण करने के लिये कहते हैं—

मे योगम् ऐश्वरम् पश्य—मुझ ईश्वर के इस असाधारण योग को अर्थात् युक्ति को (अघटित घटना चातुर्य को अर्थात् जो घटना को बुद्धि भी सोच नहीं सकती है वह भी सम्पादन करने की कुशलता मुझ ईश्वर में है एवं इसलिये इसको ऐश्वरयोग कहा जाता है–इस योग को) देखो। अभिप्राय यह है कि मेरी योगमाया का वैभव कोई भी युक्तितर्क से निर्णय नहीं कर सकता, अतः मेरी उक्ति में कुछ भी विरुद्ध नहीं है। अब अर्जुन को दूसरा आश्चर्य देखने के लिये कह रहे हैं—मम आत्मा भूतभावनः भूतभृत् अपि न च भूतस्थः—जो भूतों का (प्राणियों का) भरण अर्थात् धारण करता है वह भूतभृत् है तथा जो भूतों की भावना (पालन) करता है वह भूतभावन है।

इस प्रकार होती हुई भी मेरी आत्मा (परमस्वरूप) भूतों में (प्राणियों में) स्थित नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे जीव देह को धारण और उसका पालन करता हुआ अहंकार से ('देह मैं हूँ' इस प्रकार अभिमान कर) देह में संश्लिष्ट (बद्ध) होकर रहता है, इस प्रकार मैं प्राणियों को धारण और पालन करता हुआ भी देहादि में स्थित (आसक्त) नहीं हूँ क्योंकि मैं अहंकार से रहित हूँ.अर्थात् देहादि में आत्मबुद्धि नहीं करता हूँ।

(२) शंकरानन्द—(प्रश्न) अविक्रिय पूर्ण परब्रह्मरूप तुम्हारी भूतों में स्थिति और व्याप्ति भले ही न हो किन्तु सर्व भूत तो तुममें स्थित हैं ही ? इसके उत्तर में कहते हैं—

भूतानि न च मत्स्थानि—मुझ अव्यक्तमूर्ति, चिदेकरस परिपूर्ण ब्रह्म में भूतसकल (अर्थात् कार्यसहित अव्यक्त से लेकर स्थूल पर्यन्त भूत-सकल) स्थित नहीं हैं। जिस प्रकार भूतों में मैं नहीं हूँ, वैसे ही भूतों भी मुझमें नहीं हैं–यही कहने का अभिप्राय है। (शंका) जब 'सर्वभूतनिवासोऽसि' (समस्त भूतों के तुम निवास हो) इस प्रकार स्मृति वचन से तुम सर्वभूतों के आश्रय हो, तब 'भूतसकल भी मुझमें स्थित नहीं हैं' यह कैसे कहा जा सकता है ? (उत्तर) इस प्रकार की शंका युक्त नहीं है क्योंकि तुम को इस विषय में प्रश्न कर रहा हूँ कि निष्कल, निराकार, निर्विशेष, परिपूर्ण ब्रह्म में क्या भूतसकल ब्रह्म में संयोग सम्बन्ध से या समवाय–सम्बन्ध से अथवा तादात्म्यसम्बन्ध से स्थित हैं ? यदि प्रथम पक्ष (संयोगसम्बन्ध) माना जाय तो प्रश्न होगा कि वह संयोग सर्वत्र (सम्पूर्ण अंश से) होगा अथवा एकदेश से ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है क्योंकि परिच्छिन्न का अप-रिच्छिन्न के साथ सर्वांश से संयोग होना सम्भव नहीं है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है क्योंकि निरवयव ब्रह्म में देश की कल्पना करना असम्भव है। यदि कहो कि परमाणुओं में द्व्यणुक के समान भूतवर्ग मुझ में स्थित हैं तो भी वह असंगत होगा क्योंकि निरवयव ब्रह्म के साथ सावयव भूतों का संयोग उत्पन्न नहीं हो सकता। समवाय भी नहीं हो सकता क्योंकि भूतों का और ब्रह्म का अयुतसिद्धत्व न होने से समवाय की सिद्धि नहीं होती है। तृतीय पक्ष अर्थात् तादात्म्यसम्बन्ध भी युक्त नहीं है क्योंकि जड़ दृश्य और अजड़ (चेतन ब्रह्म) का तादात्म्य नहीं हो सकता। तब कौन सा सम्बन्ध है ? इसके उत्तर में कहा जायगा कि मेरे साथ भूतों का केवल अध्यास सम्बन्ध ही है, ऐसा मानना पड़ेगा किन्तु जो जिसमें अध्यस्त होता है वहाँ वह नाममात्र ही रहता है, वस्तुतः उसकी कोई सत्ता नहीं है, जैसे शुक्ति में कल्पित रजत अध्यस्त होकर

प्रतीत होता है। इस कारण से मुझ परिपूर्ण, निर्विशेष परब्रह्म में भूतवर्ग हैं हि नहीं क्योंकि यदि भूत होते तो उनके द्वारा ब्रह्म की जो परिच्छिन्नता की जायगी उससे ब्रह्म का पूर्णत्व रहना सम्भव न होगा किन्तु 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' (यह पूर्ण है, पूर्ण यह है) ऐसे कहकर श्रुति ब्रह्म का पूर्णत्व ही प्रतिपादन कर रही है। फिर भी 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' (वह यह ब्रह्म पूर्व-रहित, पररहित, भीतर तथा बाहर से रहित है), 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' (ब्रह्म एक अद्वितीय है), 'एक एव हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः' (एक ही रुद्र अर्थात् ब्रह्म है, दूसरे के लिये स्थान नहीं है), इत्यादि शत शत (सेकड़ों) श्रुति-वाक्यों से ब्रह्म का अद्वितीयत्व नियम पूर्वक प्रतिपादित किया गया है। जिस कारण से श्रुति ने 'नेह नानास्ति किञ्चन' (यहाँ नाना अर्थात् भेद कुछ भी नहीं है) कहकर मुझ निष्कल, निष्क्रिय, निःसंग, निरन्तर (अपरिच्छिन्न), निराश्रय, निर्विशेष परिपूर्ण ब्रह्म में प्रपञ्च के अभाव का प्रतिपादन किया है इसलिये मे ऐश्वरम्—मेरे पारमार्थिक अप्राकृत ईश्वर (ब्रह्म) सम्बन्धी अर्थात् ब्राह्मं योगं पश्य—जो ज्ञान से युक्त (प्राप्त) किया जाता है वह योग है अर्थात् एकमात्र तत्त्वज्ञान से जिनकी प्राप्ति हो सकती है उन चिद्घन, आनन्दघन, अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप आत्मा को देखो अर्थात् वह ब्रह्म मैं हूँ, इस प्रकार अपनी आत्मा (स्वरूप) से अभिन्न देखो (सत्स्वरूप यह ब्रह्म मैं ही हूँ, इस प्रकार अपने को ब्रह्मस्वरूप जानो)।

प्रश्न—श्रुति के 'नेति नेति' बचन से इस सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ के निषेध के अवधिरूप से (अन्त में) जगत् का अभाव ही शेष रहता है, उस अवस्था में क्या 'यह ब्रह्म मैं ही हूँ' इस प्रकार का विज्ञान रहता है ?

उत्तर—यह शंका ठीक है। यद्यपि प्रपञ्च का अभाव इस अवस्था में अनुभूत होता है तथापि इस विषय में शास्त्र तथा तत्त्वज्ञानी पुरुष जो कहते हैं वह सुनो—दृश्यप्रपञ्च जिससे भास्यमान (प्रकाशित) होकर जिस ब्रह्म के स्वरूप से जिसमें स्थित रहता है, उस प्रपञ्च का अभाव भी उस ब्रह्म से ही भास्यमान होकर उसके स्वरूप से उसमें ही स्थित रहता है—अन्य प्रकार से नहीं। इसलिये जगत् और जगत् का अभाव इन दोनों का स्वरूपभूत, उनका प्रकाश करने वाला एवं उनका अधिष्ठान (आश्रय) जो निर्विशेष तथा निर्विकल्प सत्ता है, वह ब्रह्म ही है—ऐसा जो पुरुष सूक्ष्मबुद्धिसम्पन्न एवं युक्तिकुशल हैं उनको जानना चाहिए। वह ब्रह्मस्वरूप स्वापरोक्ष है अर्थात् अपना आरोग्य जैसा अपने से ही जाना जाता है, उस प्रकार 'मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ' यह भी स्वयं ही जानने योग्य है। इसलिये भगवान भी 'न च मत्स्थानि

भूतानि' (ये सब भूतसमूह मुझमें स्थित नहीं है) कहकर अपने में आरोपित समस्त भूतसमूह का निषेध करके उस निषेध की अवधि (सीमा) रूप से अपने को ही अवशिष्ट रखते हैं। यही 'पश्य मे योगमैश्वरम्' वाक्य का तात्पर्य है। समस्त दृश्यप्रपञ्च के निषेध के अवधिभूत, उसके अभाव का भी अवभासक (प्रकाश करनेवाला) तथा सबके स्वरूप परब्रह्म को शुद्धचित्तवाले मुमुक्षु अपनी आत्मा के रूप से जाने, यही कहने का अभिप्राय है। इससे सर्वदृश्य के निषेध का अवधिरूप तथा सबका अधिष्ठान निर्विशेष प्रज्ञानैकरस जो परमब्रह्म है वही मैं हूँ, इस प्रकार जानना ही विज्ञान है, यह सूचित हुआ है।

प्रश्न—किन्तु 'सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' (सोम्य, यह सब प्रजा सत् आयतनवाली और सत्प्रतिष्ठावाली है) 'सर्वभूतनिवासोऽसि' (सम्पूर्ण भूतों के तुम निवास हो) इत्यादि श्रुति और स्मृति से ब्रह्म सब भूतों का आधार है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है, तब तुम क्यों कह रहे हो कि मुझ में भूतसमूह स्थित नहीं है ?

उत्तर—यह सत्य है श्रुति और स्मृतियों में मैं सब भूतों का आश्रय हूँ, ऐसा कहा गया है तो भी वह पारमार्थिक नहीं है किन्तु मेरी माया विलास का आश्रय करके अर्थात् मेरी माया के कार्यों को लक्ष्य करके कहा गया है। अतः लोकदृष्टि से उसे तो मैं भी स्वीकार करता हूँ। यही अब डेढ़ श्लोक में कहते हैं—भूतभृत्—अर्थात् सर्वभूतों को धारण कर मैं स्थित हूँ। अर्जुन स्वयं यही साक्षात् परमेश्वर है इस प्रकार मुझ में ईश्वरत्व बुद्धि रखता है किन्तु 'मैं आत्मा हूँ' ऐसा कहने पर वह मेरी देह में ही परमात्मत्वबुद्धि करेगा इसलिये भगवान ने अपने देह से पृथक् करके अर्थात् 'मेरी आत्मा मेरी देह से भिन्न है' इस प्रकार आत्मशब्द का अर्थ निर्देश करने के लिये कहते हैं—ममात्मा। यह आत्मा 'सन्मात्र (केवल सत्स्वरूप), नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, मुक्त, निरंजन, विभु, अद्वयानन्द, पर, प्रत्यगेकरस' इत्यादिरूप से श्रुति में जो मुझ ईश्वरत्व के अभिमानी की आत्मा वर्णित हुई है वह अव्यक्तमूर्तिवाली प्रत्यग् आत्मा भूतभावन—है अर्थात् आकाश से लेकर पृथिवी पर्यन्त कार्यसहित सम्पूर्ण भूतों को मैं ही भावन करता हूँ अर्थात् अपनी सत्ता से सत्तायुक्त तथा अपने प्रकाश से प्रकाशयुक्त करता हूँ। इस प्रकार भूतभावन होकर ही भूतभृत्—हूँ अर्थात् अपने में आरोपित भूतसमूह को अपनी सत्ता से अपने स्वरूपभूत करके धारण करता हूँ। 'च' कारशब्द तु (किन्तु) के अर्थ में है। न च भूतस्थः—किन्तु मेरी आत्मा भूतों में स्थित (आत्मरूप से अभिमान कर

स्थित) नहीं होती है। आत्मा यदि भूतस्थ होती तो 'विशेषण के नाश से विशिष्ट का नाश होता है' इस न्याय से भूतों के नाश से अपने भी नाश का प्रसंग आता एवं भूतों के कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि धर्मों से भी सम्बन्ध प्राप्त होता। इसलिये कह रहे हैं कि 'न च भूतस्थः' (भूतों में स्थित भी नहीं हूँ)।

प्रश्न—आत्मा भूतस्थ नहीं होनेपर भी 'भूतभृद् भूतभावनः' होने से भूतों से आत्मा में परिच्छित्ति (परिच्छिन्नता) तो हो जायगी ?

उत्तर—इस प्रकार की शंका युक्त नहीं है क्योंकि आकाश में जैसे नीलिमा आरोपित (कल्पित) होने के कारण उसकी कोई स्वतः (पारमार्थिक) सत्ता नहीं है एवं इसलिये आकाश को परिच्छिन्न नही कर सकती है वैसे ही भूतसमुह मुझमें कल्पित हैं, अतः उनकी पारमार्थिक सत्ता न रहने के कारण वे मेरा परिच्छेदक नहीं हैं। अथवा मुझ अधिष्ठान से भूतों की पृथक् सत्ता न रहने के कारण वे तो मेरा स्वरूपमात्र हैं अर्थात् मुझको ही भूतों के रूप से अज्ञानी लोग देखते हैं। अतः फिर 'उनमें मैं स्थित हूँ' ऐसा नहीं होना चाहिए, इस अभिप्राय से कहा गया है—न च भूतस्थः। इससे यही सिद्ध होता है कि मरू में जल के समान, आकाश में नीलिमा के समान मुझमें भूतसमूह स्थित हैं, परन्तु भूतों में मैं स्थित नहीं हूँ।

(३) नारायणी टीका—श्रीभगवानने पूर्व श्लोक में कहा है कि समस्त भूत मुझमें स्थित हैं किन्तु मैं किसी में स्थित नहीं हूँ। अब भगवान् कह रहे हैं कि ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त कोई भी वस्तु मुझमें स्थित नहीं है क्योंकि मेरा ऐश्वर योग (अघटनघटनपटीयसी अर्थात् अघटन को घटित करने की सामर्थ्य वाली माया) द्वारा गन्धर्वनगर के समान इस विश्व प्रपञ्च निर्मित हुआ है। यह सृष्टि जगत् की कोई पारमार्थिक सत्ता न रहने के कारण तात्त्विक दृष्टि से भूतसमूह मुझमें स्थित नहीं है (यद्यपि मेरी माया या कल्पना-शक्ति से मुझ में प्रतीत हो रहे हैं)। वह मायाशक्ति ही मुझ ईश्वर का योग (प्रभाव) है—वह असाधारण, अलौकिक एवं आश्चर्यपूर्ण है। अतः मैं वासुदेव साधारण मनुष्य हूँ इस प्रकार की बुद्धि त्याग कर मुझ ईश्वर के योग को (अघटनघटनाचातुर्य को) देखो अर्थात् पर्यालोचन करो। इस द्वैतरूप इन्द्रजाल का उपादान कारण है अज्ञान—उस अज्ञान को ही आश्रय कर कहा जाता है कि ब्रह्म जगत् का कारण है, अतः सर्वभूत ब्रह्म में स्थित हैं। अज्ञान या माया कोई वस्तु नहीं है, अतः उससे उत्पन्न हुये भूतसमूह भी कल्पित मिथ्या ही होंगे। फिर परमात्मा असंग है क्योंकि श्रुति में कहा है 'असंगो ह्ययमात्मा' (बृ० उ०)। अतः अज्ञान या माया का कार्यभूत

मिथ्या जागतिक विषयों के साथ नित्य, सत्य, असंग, अनावृत, साक्षीस्वरूप मेरा सम्बन्ध नहीं रह सकता अर्थात् मुझमें आधेयभाव से कुछ भी स्थित रह नहीं सकता। तथापि मुझमें ही मेरे योग (प्रभाव) से विश्व कल्पित होने के कारण मेरी आत्मा (अर्थात् शुद्धचैतन्यस्वरूप) मानो 'भूतभृत्' है अर्थात् मानो अधिष्ठानरूप से सर्वभूतों को धारण (पोषण) कर रहा है एवं 'भूतभावन' भी है अर्थात् सभी भूतों की वृद्धि भी सम्पादन कर रहा है। तथापि मैं 'भूतस्थ' नही हूँ अर्थात् भूतसमूह में स्थित नहीं हूँ क्योंकि जिस· प्रकार स्वप्नद्रष्टा स्वप्न दृश्यों में स्थित नहीं रहता है उसी प्रकार परमार्थतः मेरी आत्मा (नित्यशुद्ध, सर्वव्यापी, परिपूर्ण, अखण्ड, अद्वय, स्वरूप) दृश्यप्रपञ्च की कोई वस्तु में स्थिति नहीं है। अथवा मेरी आत्मा (मेरी मनोमय कल्पनारूप मायाशक्ति) ही 'भूतभृत्' (भूतसमूह को धारण करने वाली या पोषणकर्त्री) एवं 'भूतभावन' (भूतों की वृद्धिकारिणी एवं नियन्त्री) है किन्तु मैं (परमेश्वर) असंग तथा निर्लेप होने के कारण किसी में स्थित नहीं हूँ अर्थात् सबके सम्बन्ध से रहित हूँ।

[परमात्मा समस्त जागतिक दृश्य वस्तु को व्याप्त कर उसकी सृष्टि-स्थिति-संहार के अधिष्ठान के रूप से विद्यमान हैं तथापि वे असंग हैं यह बात पहले भी कहा गया है। अब परस्पर असंश्लिष्ट (सम्बन्धरहित) वस्तुद्वय का भी आधारआधेयभाव हो सकता है, वह दो श्लोकों में दृष्टान्त के द्वारा बताते हैं]

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

अन्वयः—यथा आकाशस्थितः वायुः नित्यं सर्वत्रगः महान्, तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानि इति उपधारय।

अनुवाद–जिसप्रकार सर्वदा चलनशील सर्वत्र गमन करने वाली महान् वायु आकाश में रहती है (किन्तु असंग आकाश को लिप्त नहीं कर सकती है) उसीप्रकार समस्त भूतवर्ग सर्वदा मुझमें स्थित है (किन्तु मुझको लिप्त नहीं करता है), ऐसा समझो।

भाष्यदीपिका–यथा–जिसप्रकार लोक में आकाशस्थितः—आकाश में अवस्थित होकर वायुः—वायु ['वातीति वायुः' अर्थात् जो वहता है वह वायु है] नित्यं—सर्वदा अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार काल में भी

चलता है इसलिये वह वायु नित्य (सदा) एवं सर्वत्रगः—सर्वत्र गामी अर्थात् सर्वत्र चलन स्वभाव वाला है तथा वह महान्—परिमाणतः महान् भी है क्योंकि ऐसा नहीं होने पर वह सर्वत्र गमन नहीं कर सकता था। तब भी जिसप्रकार वायु आकाश के साथ संश्लिष्ट (संसर्ग युक्त) नहीं होता है क्योंकि निरवयव होने के कारण उसके साथ संसर्ग नहीं हो सकता है (श्रीधर) उसीप्रकार सर्वाणि भूतानि—सर्वभूत [अर्थात् आकाशादि सभी महान् एवं सर्वत्रगामी भूतसमूह (मधुसूदन)] मत्स्थानि—आकाशवत्, असंग, सर्वगत मुझ में (परिपूर्ण परमात्मा में) असंश्लिष्टरूप से ही स्थित हैं। इति उपधारय—यह तुम अवधारण करो अर्थात् जानो (विचार कर निश्चय करो)।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—देह और आत्मा दोनों एक दूसरे के संग से रहित है, तो भी उन दोनों में आधार आधेय भाव है, यह दृष्टान्त से बताते हैं—यथा नित्यम् आकाशस्थितः वायुः सर्वत्रगः अपि महान् अपि (आकाशेन न संश्लिष्यते)—अवकाश के विना किसी वस्तु की स्थिति सम्भव नहीं है। अतः सदा ही आकाश में स्थित वायु सर्वत्र गमनशील तथा महान् है, तो भी आकाश के साथ वायु का संग नहीं होता है क्योंकि आकाश का कोई अवयव न रहने के कारण आकाश के साथ किसी वस्तु का संग होना सम्भव नहीं है। तथा सर्वाणि इत्यादि—उसीप्रकार मुझमें समस्त प्राणी स्थित हैं (तथापि मैं सदा ही संगरहित हूँ), ऐसा तुम जानो।

(२) शंकरानन्द—आकाशादि भूत तो महान् है, तो कार्य सहित उन महान् भूतों की आप में स्थिति कैसे हो सकती है ? इसी आशंका का निवारण करने के लिये श्रुति कहती है—'स दिवो ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्' (वह स्वर्ग से श्रेष्ठ है अन्तरिक्ष से श्रेष्ठ है), 'एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पुरुषः' (इन सबसे यह पुरुष श्रेष्ठ है, इनकी इतनी महिमा है, सर्वभूत इनके एक पाद हैं—इनके अमृतरूप अर्थात् अविनाशी तीन पाद द्युलोक में हैं। इन वाक्यों के अनुसार श्रेष्ठ मुझ परब्रह्म में जैसे चन्द्र के एकदेश में ही नीलिमा रहती है, वैसे ही अव्यक्त से लेकर सर्वभूत स्थित हैं। यही अब श्रीभगवान् दृष्टान्त के साथ उपपादन करते हैं—सर्वत्रगः—आकाश को स्पर्श नहीं कर स्वयं सर्वत्र जाता है अर्थात् आविर्भाव और तिरोभाव को प्राप्त होकर (आता एवं जाता हुआ) सर्वत्र चेष्टा करता है, ऐसा सर्वत्रग तथा महान् वायुः—महत् परिमाण वाला वायु आकाशे यथा नित्यं (स्थितः भवति)—आकाश में (भूताकाश में) जिसप्रकार नित्य (सदा) स्थित रहता है तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानि—उसीप्रकार महत्तत्त्व से लेकर स्थूल तक सर्वभूत मुझमें स्थित

हैं अर्थात् परिपूर्ण निष्क्रिय निराकार निरन्तर परब्रह्म में स्थित रहते हैं इति उपधारय—इसप्रकार अवधारण करो।

(३) नारायणी टीका—[९।४–६ श्लोकों का तात्पर्य] ९।४ श्लोक में परमात्मा का विश्वानुग (Immanent) रूप वर्णित हुआ है। (१) वह समस्त जगत् में व्याप्त है अतः समस्त जगत् की वही अधिष्ठान सत्ता है, (२) समस्त जगत् उन्हीं में अवस्थित हैं किन्तु जगत् की किसी वस्तु में (नाम रूप तथा क्रिया में) वह स्थित नहीं है क्योंकि समस्त जगत् कल्पित होने के कारण (परमात्मा में अध्यस्त होने के कारण) वे सब मिथ्या है अधिष्ठान विना अध्यस्त की कोई पृथक् सत्ता नहीं है किन्तु अधिष्ठान अध्यस्त किसी वस्तु के गुण तथा दोष के द्वारा कभी भी संसृष्ट नहीं होता है, यह रज्जु सर्पभ्रम के दृष्टान्त के द्वारा पहले ही स्पष्ट किया गया है। इसलिए जागतिक सब कुछ उनमें रहने पर भी। अर्थात् उनको अधिष्ठान (आधार) करके प्रतीत होनेपर भी वे (परमात्मा) किसी में भी नहीं हैं, यह कहा गया है। वर्तमान श्लोक में परमात्मा के असंगत्व तथा निर्लेप भाव को और भी स्पष्ट रूप से कहा गया है। एक ओर उनके ईश्वरी योग (माया) के द्वारा 'भूतभावन' [भूतों को प्रकट (उत्पन्न) करने वाले या बढ़ाने वाले] तथा 'भूतभृत्' (धारण तथा पोषण करने वाले) हैं अर्थात् समस्त जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण दोनों ही वे हैं। दूसरी ओर (अर्थात् पारमार्थिक रूप से) वे निर्गुण, निष्क्रिय, असंग, निर्लेप, एक, अखंड, अद्वितीय परमतत्त्व हैं। [जिसप्रकार चलचित्र के (Cinema के) श्वेतवस्त्र के सामने की ओर देखने से जितने भी नामरूप तथा क्रिया रूप से कल्पित दृश्य (नाटक) देखते हैं उनका वह श्वेत वस्त्र ही (White Screen) अधिष्ठान है अर्थात् सब कुछ श्वेत वस्त्र को ही अवलम्बन कर भासमान रहते हैं किन्तु श्वेत वस्त्र उनमें स्थित नहीं रहता है (९।४ श्लोक का यही तात्पर्य है) और यदि उस श्वेत वस्त्र के पश्चात् भाग को (Backside को) देखा जाय तो श्वेतवस्त्र को अवलम्बन कर न तो कोई नाट्य-दृश्य स्थित रहता है, ("न च मत्स्थानि भूतानि') और न तो श्वेतवस्त्र नाट्यदृश्य में रहता है ('न च भूतस्थो ममात्मा') क्योंकि श्वेतवस्त्रखंड तब सब अध्यस्त दृश्य वस्तुओं से शून्य होकर अपने यथार्थरूप में विद्यमान रहता है। परमात्मा के साथ विश्वनाटक का भी ऐसा ही सम्बन्ध है। यही परमतत्त्व का परमरूप है। जगत् से अतीत परमात्मा का पारमार्थिक (Transcedental) स्वरूप का पूर्णज्ञान होने पर इसका अनुभव होता है।

वस्तुतः समस्त भूत, स्वप्नद्रष्टा के स्वप्नदृश्य के समान परमात्मा में माया से

कल्पित होकर प्रतीत हो रहे हैं अतः वे सब मिथ्या हैं—सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा ही एकमात्र सत्य वस्तु नहीं होते हुए भी जिस अघटनघटनपटीयसी माया शक्ति से अनन्त ब्रह्माण्ड अज्ञानियों की दृष्टि में सत्यरूप से प्रतीत हो रहे हैं वही 'ऐश्वरयोग' (परमात्मा का असाधारण आश्चर्य प्रभाव) है। इस 'ऐश्वरयोग' को जान लेने पर जगत् का मिथ्यात्व तथा ब्रह्म का (परमात्मा का) सत्यत्व निश्चय होता है। इसलिये भगवान् ने इसको देखने के लिये (विशेष भाव से पर्यालोचन करने के लिये) अर्जुन को कहा—'पश्य मे योगमैश्वरम्'। (९।६) वायु सर्वदा चंचल है और इस कारण से ही यह सर्वत्र गमन करता है एवं इसका परिमाण भी महान् है। वायु ऐसा होने पर भी असंग स्वभाव आकाश में स्थित रहता है एवं नित्य अर्थात् जागतिक वस्तु को सृष्टि, स्थिति तथा संहार काल में भी बहते रहने पर भी वह जिसप्रकार आकाश के साथ संसृष्ट नहीं होता है अर्थात् वायु के दोष-गुण से आकाश जिसप्रकार लिप्त नहीं होता है, उसीप्रकार महान् तथा सर्वत्र गमनशील जागतिक सभी भूतवर्ग मुझमें (आकाश के समान सर्वत्र परिपूर्ण मुझ परमात्मा में) इन्द्रजाल के समान स्थित हैं किन्तु उनके गुण या दोषों से मैं लिप्त नहीं होता हूँ। अतः आकाश के दृष्टान्त द्वारा यह तुम विचार कर समझ लो कि आत्मा असंग होकर भी समस्त जगत् का आधार हो सकता है।

[अब प्रश्न होगा—कल्पित प्रपंच के उत्पत्तिकाल में तथा स्थिति काल में परमात्मा के साथ कोई संश्लेष नहीं होता है यह तो समझ सकते हैं किन्तु प्रलयकाल में जब समस्त जगत परमात्मा में लय हो जाता है तब परमात्मा के साथ कोई संश्लेष (संसर्ग) नहीं होता है, यह कैसे सम्भव है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि जगत् के स्थितिकाल में, आकाश में वायु के समान, जो समस्तभूत मुझमें स्थित रहते हैं वे]

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

अन्वय—हे कौन्तेय ! सर्वभूतानि कल्पक्षये मामिकां प्रकृतिं यान्ति, पुनः कल्पादौ अहं तानि विसृजामि।

अनुवाद—हे कुन्तीनन्दन ! कल्प का अन्त होने पर (प्रलयकाल में) भूतसमूह मेरी (त्रिगुणात्मिका अपरा) प्रकृति में विलीन हो जाते हैं तथा पुनः कल्प के आरम्भ होने पर (सृष्टिकाल में) मैं उनकी सृष्टि करता हूँ।

भाष्यदीपिका—हे कौन्तेय ! हे अर्जुन ! सर्वभूतानि—सर्वभूतवर्ग

वायु जिस प्रकार आकाश में अवस्थान करता है उस प्रकार स्थितिकाल में सभी भूत ही मुझमें अवस्थान करते हैं। वे भूतसमूह कल्पक्षये—प्रलयकाल में मामिकां—मदीय अर्थात् मेरे अधीनस्थ एवं स्वयं अस्वतंत्र प्रकृतिं—त्रिगुणमयी अपरा निकृष्टा प्रकृति में (जिसके सम्बन्ध में ७ वें अध्याय के चतुर्थ श्लोक में पहले ही कहा गया है अथवा मेरी शक्तिरूप से कल्पित हुई (मानी हुई) प्रकृति में अर्थात् भूतवर्ग की अपनी कारणभूत त्रिगुणात्मिका माया में (मधुसूदन) यान्ति—चले जाते हैं अर्थात् उसी में ही सूक्ष्मरूप से प्रलीन होते हैं। पुनः—पुनः कल्पादौ—कल्प के आरम्भ होने पर अर्थात् उत्पत्ति (सृष्टि) काल में अहम्—मैं (सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर' ही) विसृजामि—पूर्ववत् (पूर्वकल्प की सृष्टि की भाँति) उत्पादन करता हूँ अर्थात् प्रलय काल में प्रकृति में जो भूतवर्ग अविभक्त से लीन थे (एकाकार होकर प्रलीन थे) उनको (विभक्त कर) सृजामि (अभिव्यक्त कर देता हूँ)।

टिप्पणी (१) श्रीधर—इस प्रकार असंग परमात्मा योगमाया के द्वारा जगत् की स्थिति (पालन) का हेतु होता है—यह कहा गया। अब उसी योगमाया के द्वारा परमात्मा सृष्टि और प्रलय का भी हेतु होता है, यह कह रहे हैं-हे कुन्तीपुत्र ! समस्त भूत (प्राणी) प्रलय काल में मेरी प्रकृति को प्राप्त होते है अर्थात् त्रिगुणात्मिका माया में लीन होते है। पुनः कल्प के आरम्भ होने पर अर्थात् सृष्टि काल में उन सब प्राणियों की विशेषरूप से सृष्टि (रचना) करता हूँ।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार आकाश में जिस प्रकार वायु रहता है उसी प्रकार सभी भूतो की स्थिति अपने में ही लय और उत्पत्ति भी होती है यह कहते हैं।

पूर्व में 'अव्यक्ताद्व्यक्तयः' (अव्यक्त से व्यक्ति इत्यादि गीता ८।१८) जो भूतों का प्रलयादि कहा वह तो दैनन्दिन प्रलय के सम्बन्ध में कहा। अब प्राकृत प्रलयादि के सम्बन्ध में कहा जा रहा है। हे कौन्तेय ! कल्पक्षये सर्वभूतानि मामिकां प्रकृतिं यान्ति—हे अर्जुन ! मुझ में जो आकाश आदि सब भूत स्थित हैं वे ही कल्प के (ब्रह्मा के कल्प के) क्षय होने पर अर्थात् ब्रह्मा का प्रलय होने पर मेरी अपरा नामक प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' (माया को ही प्रकृति जानो) इस श्रुतिप्रसिद्ध त्रिगुणमयी माया को प्राप्त होते हैं अर्थात् लय प्राप्त होते हैं (उत्पत्ति के विपरीत क्रम से प्रकृति में (माया में) प्रकृष्ट रूप से लीन होते हैं। पुनः अहं तानि कल्पादौ विसृजामि—जो भूतवर्ग प्रकृति में लय प्राप्त होते हैं

उनको कल्प के आदि में (प्रलय काल के अन्त होने पर ब्रह्मा के जो नया कल्प का आरम्भ होता है उसमें) पुनः (फिर) मैं विशेष रूप से अर्थात् अपनी प्रकृति द्वारा भूतों के स्वभावानुसार जगत् की सृष्टि करता हूँ।

(३) नारायणी टीका—९।८ श्लोक की नारायणी टीका द्रष्टव्य।

[वह प्रकृति जिसमें समस्त भूत प्रलय काल में लीन होते हैं वह कैसे सृष्टि करने में समर्थ होती है ? और तुम असंग निर्विकार आत्मा हो, तुम कैसे सृष्टि करते हो ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—]

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

अन्वय—स्वाम् प्रकृतिम् अवष्टभ्य (अहं) प्रकृतेः वशात अवशम् इमं कृत्स्नं भूतग्रामं पुनः पुनः विसृजामि।

अनुवाद—मेरी निजप्रकृति को वशीभूत कर उस प्रकृति के वश में अवस्थित अतः अवश (अस्वतन्त्र) इन भूतसमूह को पुनः पुनः मैं सृष्टि करता हूँ।

भाष्यदीपिका—स्वां प्रकृतिम्—इस प्रकार अविद्या लक्षण अपनी प्रकृति को (माया को) अर्थात् मेरी कल्पनाशक्ति या माया नामक अनिर्वचनीय प्रकृति को अवष्टभ्य—वशीभूत कर (अपनी सत्ता तथा स्फुरण (प्रकाश) के द्वारा दृढ़ कर) प्रकृतेःवशात् अवशं—प्रकृति के वश से (स्वभाव के वश से) अवश (अस्वतन्त्र) अर्थात् अविद्यादि दोष के द्वारा परवशीकृत [मेरी प्रकृत या माया का आवरण तथा विक्षेपशक्ति के प्रभाव से जीव की अविद्या, अस्मिता अर्थात् दृश्य देहादि में द्रष्टा आत्मा का एकात्मताबोध (देहादि में 'मैं' बोध) तथा राग (विषयासक्ति) द्वेष (किसी वस्तु का प्रतिकूल भाव) एवं अभिनिवेश (मृत्युभय) इन पंचक्लेशों की उत्पत्ति होती है ये पंचक्लेश ही जीव का स्वभाव होता है अतः जीव की प्रकृति (स्वभाव) मेरी प्रकृति अथवा मायाशक्ति से ही उत्पन्न होती है। जीव इसके द्वारा ही अर्थात् अविद्यादि दोषों के द्वारा ही वशीभूत होकर अर्थात् अवश अस्वतंत्र होकर संसारचक्र में भ्रमण करता है। ऐसी प्रकृति अथवा अपने स्वभाव से वशीभूत तथा अस्वतंत्र—इमं—[मेरी प्रकृति (माया) से उत्पन्न] यह अर्थात् दृश्यरूप से विद्यमान कृत्स्नं समग्रं भूतग्रामम्—भूतसमुदाय को अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब तक भूतसमूह को पुनः पुनः—बारं बार (पुनः पुनः शब्द के द्वारा संसार का

अनादित्व कहा गया) (अहं) विसृजामि—मैं (परमेश्वर) केवल कल्पना के द्वारा ही (विविध) प्रकार से सृष्टि करता हूँ। मेरी कल्पनाशक्ति को ही प्रकृति या माया कहा जाता है। मायावी (ऐन्द्रजालिक) जिस प्रकार केवल कल्पना शक्ति के द्वारा विविध ऐन्द्रजालिक वस्तुओं की सृष्टि कर अज्ञानी जनसमूह को दिखाता है अथवा स्वप्न देखने वाला व्यक्ति जिस प्रकार स्वप्न काल में कल्पना के द्वारा अनेक प्रकार की सृष्टि करता है, मैं भी उसी प्रकार केवल मेरी कल्पना शक्ति से अथवा माया शक्ति के द्वारा इस इन्द्रजालरूप विश्वप्रपंच की सृष्टि करता हूँ। ऐन्द्रजालिक अथवा स्वप्नद्रष्टा जिस प्रकार सब कुछ की सृष्टि करके भी परमार्थतः कुछ भी सृष्ट नहीं करता है एवं बिन्दुमात्र भी अपने स्वरूप से विच्युत नहीं होता है, उसी प्रकार मैं भी समस्त जगत का सृष्टिकर्ता होकर भी मैं सदा ही अकर्ता तथा अविनाशी स्वरूप में स्थित रहता हूँ। इसलिए ही गीता में अन्यत्र भी कहा गया है। 'तस्य कर्तारमपि मां विध्यकर्तारमव्ययम्' (गीता ४।१३)। ऐन्द्रजालिक की सृष्ट वस्तुएँ जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक की कल्पना के वशीभूत होकर अवश भाव से रहती हैं अथवा स्वप्नद्रष्टा के द्वारा कल्पित स्वाप्निक प्राणीसमूह जिस प्रकार स्वप्न द्रष्टा की कल्पना के वशीभूत होने के कारण अस्वतन्त्र हैं, उसी प्रकार मेरी कल्पना शक्ति (प्रकृति या माया) के द्वारा सृष्ट वस्तुएँ उस प्रकृति से उत्पन्न स्वभाव के (अविद्या रागद्वेषादि के) वशीभूत होनेके कारण अवश होकर उत्पन्न होते हैं। इसलिए जागतिक सभी वस्तु माया के द्वारा सृष्ट होने के कारण सभी मायामय हैं, अतः मिथ्या है, यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है।

मधुसूदन सरस्वती की टीका में कहा गया है—परमेश्वर यह मायामय सृष्टि किस उद्देश्य से किये हैं ? इसे विचार करने से ही इस श्लोक का अर्थ स्पष्ट होगा ! (क) परमेश्वर भोग के लिए सृष्टि नहीं किये हैं क्योंकि वे सभी के साक्षीभूत शुद्ध चैतन्य स्वरूप हैं, अतः उनमें भोक्तृत्व सम्भव नहीं है। भोक्ता होने से तो संसारिता आने के कारण उनके ईश्वरत्व का ही व्याघात हो जायगा। (ख) अन्य के भोग के लिए सृष्टि की गयी है यह बात भी युक्त नहीं है क्योंकि परमेश्वर से अतिरिक्त दूसरी कोई चेतन सत्ता नहीं है, अतः दूसरा कोई भोक्ता भी नहीं है चूँकि परमेश्वर ही माया के द्वारा सर्वत्र जीवरूप में विराजमान हैं। फिर अचेतन जड़वर्ग में कभी भोक्तृत्व रह नहीं सकता। अतः प्रमाणित होता है कि भोग के लिए सृष्टि नहीं हुई है। (ग) और यदि कहो कि अपवर्ग के लिए (मोक्ष के लिए) सृष्टि हुई है वह भी युक्त

नहीं है क्योंकि प्रथमतः परमार्थतः (सब ही ब्रह्मस्वरूप होने के कारण) कोई भी बद्ध नहीं हैं; द्वितीयतः, सृष्टि अपवर्ग (मोक्ष) की विरोधिनी है। (अतः सांख्य लोग जो यह कहते हैं कि पुरुष का भोग तथा अपवर्ग सिद्ध करना ही सृष्टि का प्रयोजन है वह संगत नहीं है।) इस प्रकार सृष्टि की प्रयोजनीयता के सम्बन्ध में कोई युक्ति स्थिर नहीं किया जा सकता है। इस लिए सृष्टि मायामय है, यही प्रमाणित होता है। अभिप्राय यह है कि मुक्ति (भोग) नहीं तो मुक्ति ही प्रत्येक पुरुष का काम्य है। जो इन दोनों से बहिर्भूत है उसे पुरुषार्थ नहीं कहा जा सकता है। सृष्टि की मुक्ति तथा मुक्ति व्यापार में कोई प्रयोजनीयता न रहने के कारण सृष्टि को मायामय ही कहना पड़ेगा। माया के कार्य का कोई प्रयोजन नहीं रहता है। रज्जु में सर्पभ्रम, मरु में मरीचिका भ्रम क्यों होता है (उसकी आवश्यकता क्या है ?) यह बात कोई भी निर्णय नहीं कर सकता है तथापि ऐसा भ्रम होता है। इसलिए मांडूक्योपनिषद् की गौडपादकारिका में कहा गया है—'भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा' अर्थात् कोई कहते हैं कि सृष्टि ईश्वर के भोग के लिए (ईश्वर के ईश्वरत्व को प्रकाश करने के लिए) है, पुनः कोई कहते हैं कि सृष्टि उनकी क्रीड़ा के लिए हुई है किन्तु परमात्मा तो पूर्णकाम है, अतः उनको स्पृहा नहीं रह सकती है। अतः सृष्टि देव का (स्वयंप्रकाश परमात्मा का) अर्थात् अपनी आत्मभूता कल्पना शक्ति अथवा अघटनघटन-पटीयसी माया का ही कार्य है, अतः सृष्टि मायामय तथा मिथ्या है यह स्वीकार करना ही पड़ेगा।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—यदि प्रश्न किया जाय कि तुम (भगवान्) तो असंग और निर्विकार हो किन्तु फिर सृष्टि कैसे करते हो ? इसके उत्तर में कहते हैं—अपने अधीन रहनेवाली प्रकृति को (माया को) आश्रय कर प्रलय-काल में जो समस्त प्राणी (स्वेदज, उद्भिज्ज, जरायुज तथा अण्डज)—इन चार प्रकार के समस्त प्राणि समुदाय कर्मादि के परवश होकर लीन हुए थे उन सबकी मैं बार-बार नाना प्रकार से (अथवा विशेषरूप से) सृष्टि करता हूँ। किस प्रकार से ? (उत्तर) प्रकृति के वश से रचता हूँ अर्थात् जीव के प्राचीन कर्मों से उत्पन्न हुआ विशेष-विशेष स्वभाव के बल को अपेक्षा कर मैं उन की सृष्टि करता हूँ (अतः मुझ में पक्षपातित्व दोष आरोपित नहीं हो सकता)।

(२) शंकरानन्द—'य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति। विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु'

[जो एक वर्ण अर्थात् अद्वितीय है, जिसका अर्थ (उद्देश्य) निहित (अत्यन्त गूढ) है, वह बहुत प्रकार की शक्तियों के योग से अनेक वर्ण-विशिष्ट विश्वको आदि में धारण करता है और अन्त में चेतनारहित कर देता है, वह देव हमको शुभ बुद्धि से सम्यक् प्रकार से युक्त करे], इस श्रुति से यही जाना जाता है कि परमात्मा स्वयं कूटस्थ, असंग, चिद्रूप होनेपर भी अपने जिस उपाधिधर्म से भूतों की सृष्टि आदि करता है उसे अपने धर्म के रूप से निर्देश करते हुए यह सूचित करते हैं कि 'वही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाला है, सर्ववित् तथा मोक्षदाता है, अतः इनका आराधन करके हम कृतार्थ होंगे—इस प्रकार की भावना से मुमुक्षु सगुण ब्रह्म की उपासना करें' अथवा यदि कोई लोग जगत् को अनीश्वर (ईश्वररहित) मानते हैं, तो उनके मत का खण्डन करने के लिये कहते हैं—स्वां प्रकृतिम् अवष्टभ्य—माया नामक अपनी उपाधिभूता शुद्धसत्त्वात्मिका प्रकृति को स्वीकार कर (अवलम्बन कर) अहं प्रकृतिवशात्—मैं परमेश्वर अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश (मृत्युभय) रूप प्रकृति के स्वभाव से अर्थात् अनादि संसार-वासना से ग्रस्त होने के कारण अवशम्—अस्वतंत्रम् इमं सर्वम् भूतग्रामम्—यह अर्थात् परिदृश्यमान सब प्राणियों को संहार करके पुनः पुनः विसृजामि—पुनः पुनः (बारंबार) उनके कर्म के अनुसार उनको नाना योनियों में उत्पन्न करता हूँ। इससे यह सूचित होता है कि प्राणियों का कर्म निमित्तमात्र है, मैं ही स्रष्टा, भर्ता, संहर्ता एवं नेता हूँ—मुझ से और अन्य कुछ नहीं है। श्रुति भी कहती है 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिः' (यह सब का ईश्वर है, यह भूतों का अधिपति है)।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्ववर्ती श्लोक में भगवान ने कहा—कल्प का आरम्भ होने पर मैं समस्त भूतों की विविधरूप से (नाना प्रकार से) सृष्टि करता हूँ। प्रश्न होगा-श्रुति कहती है कि 'परमात्मा असंग, निर्विकार, निष्क्रिय, पूर्णकाम है' अतः (१) सृष्टि किस कारण से (किस प्रयोजन की सिद्धि के लिये) करते हो क्योंकि तुम तो पूर्ण हो अतः भोग की इच्छा तुम्हारे लिये सम्भव नहीं है। यदि कहो कि सृष्ट भूतों के भोग के लिये सृष्टि करता हूँ तो वह भी युक्त नहीं है क्योंकि एकमात्र तुम ही चैतन्य सत्ता हो तुम्हारे विना और सभी तो जड़ (अचेतन) है, अतः जड़ के भोग भी सम्भव नहीं हैं। और यदि कहो मुक्ति के लिये सृष्टि कर रहा हूँ तो यह भी युक्त नहीं है क्योंकि तुम नित्यमुक्त हो। फिर सृष्टि तो संसार में बन्धन करनेवाली है अतः वह सदा ही मुक्ति की विरोधिनी है। इस प्रकार की शंका का निवारण करने के

लिये भगवान् कहते है—मैं अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप में (तुरीयावस्था में) निष्क्रिय हूँ । मेरा चार पाद हैं—(क) जाग्रदभिमानी वैश्वानर, (ख) स्वप्नाभिमानी तैजस, (ग) सुषुप्ताभिमानी प्राज्ञ (जिसको समष्टिरूप से ईश्वर, अन्तर्यामी या सर्ग-स्थिति-प्रलयकर्त्ता कहा जाता है) एवं (घ) सर्व अभिमान से रहित तुरीय (जो मेरी अखण्ड, अद्वितीय, सर्वप्रपञ्चरहित शुद्ध सत्ता है)। जब मैं मायायुक्त होता हूँ अर्थात् मेरी अनिर्वचनीय स्वभावसिद्ध कल्पना-शक्ति को स्वीकार कर लेता हूँ तब सृष्टि के कार्य का आरम्भ होता है एवं उपरोक्त (ग), (ख) एवं (क) के रूप से यथाक्रम से (परम्परा कारण कार्यरूप से) मेरे स्वरूप में ईश्वर, जीव तथा जगत् विवर्तित होते हैं। इसलिये श्रुति भी कहती है—'मयि जीवत्वमीशत्वं कल्पितं वस्तुतो न हि' अर्थात् मुझ परब्रह्म में जीवत्व तथा ईश्वरत्व कल्पित हैं—उनकी कोई पारमार्थिक (वास्तविक) सत्ता नहीं है। अतः ! मैं (परब्रह्म) जब माया को अवलम्बन कर ईश्वरभाव में विवर्तित होता हूँ तब ही सृष्टिक्रिया शुरू होती है। ब्रह्म में जो कल्पनारूपिणी विचित्र परिणामिनी अनिर्वचनीया अविद्यालक्षणा अघटन-घटनपटीयसी शक्ति स्वभावरूप से—विद्यमान है, वही प्रकृति या माया नामसे शास्त्र में वर्णित हुई है। अतः न तो परब्रह्म की कोई प्रयोजन सिद्धि के लिये और न तो क्रीडा के लिये और न तो मुक्ति के लिये सृष्टिरचना की गई है—सृष्टि तो ब्रह्म के स्वभाव से (अपना भाव या कल्पनाशक्ति से) होती है। इसलिये श्रुति में कहा है—'देवस्य एषः स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा' (माण्डूक्य कारिका)। इस कारण से भगवान कहते हैं—स्वां प्रकृतिम् अवष्टभ्य—अपनी प्रकृति या माया को वशीभूत कर अपने में 'अहं बहु स्याम्' इस प्रकार जो स्वभावसिद्ध संकल्पशक्ति है (जो मेरी स्वीयप्रकृति है) उस संकल्प को (प्रकृति को) अपनी सत्ता तथा स्फुरण द्वारा दृढ़ कर भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश (पञ्चमहाभूत) तथा मन, बुद्धि एवं अहंकार-इन आठ भागों में विभक्त कर (गीता ७।४) इमम् कृत्स्नम् भूतग्रामम्—इन समस्त भूतवर्ग को पुनः पुनः विसृजामि—विविध प्रकार से (मनुष्य, तिर्यक् पशु इत्यादि नानाप्रकार से) बारंबार सृष्टि करता हूँ। अब प्रश्न होगा-तुम्हारी माया या संकल्प शक्ति से उच्च नीच, सुखी दुःखी विभिन्न प्रकार के जीवों की सृष्टि होती है। क्या इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि तुम में विषमता तथा नैर्घृण्य (निष्ठुरता) है ? इसके उत्तर में कहते हैं—नहीं, प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मानुसार जिस प्रकार वासनासंस्कार से सम्पन्न हुआ है वही उसकी व्यक्तिगत प्रकृति है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनवेश

इस प्रकृति के ही अन्तर्गत हैं। इस प्रकार अपनी वासनासंस्काररूपा प्रकृति के साथ ही प्रलय काल में जीव लीन होकर रहता है एवं फिर सृष्टि के प्रारम्भ में पुनः 'प्रकृतेर्वशात् अवशम्—अर्थात् उस प्रकृति द्वारा वशीभूत होकर अवश अर्थात् अस्वतन्त्र भाव से जन्म लेता है अर्थात् पूर्वकर्मजनित संसारवासनानुसार अवश होकर अपनी अनुकूल योनिमें पुनः जन्म लेता है। इस प्रकार जन्म से मृत्यु तथा मृत्यु से जन्म, प्रवाहरूप से चलता रहता है—यही श्लोकमें 'पुनः पुनः' शब्द का तात्पर्य है। अतः मुझमें पक्षपातित्वदोष का आरोप नहीं हो सकता है—यही भगवान के कहने का अभिप्राय है। अथवा श्लोक का इस प्रकार अर्थ करने से विषय और स्पष्ट हो सकता है। स्वप्नद्रष्टा जिस प्रकार विना प्रयोजन से केवल कल्पना के बल से समस्त स्वप्नदृश्य की सृष्टि करता है किन्तु उससे स्वप्नद्रष्टा का कोई संसर्ग एवं तज्जनित वृद्धि या हानि नहीं होती है उसी प्रकार अचिन्त्या माया (संकल्प) शक्तिसम्पन्न असंगस्वभाव में (परमात्मा) भी प्रकृतिं स्वाम् अवष्टभ्य—अपनी प्रकृति को (संकल्पशक्ति को) वशीभूत कर अर्थात् संकल्पमात्र से ही प्रकृतेर्वशात् अवशं कृत्स्नम् भूतग्रामम्—उस प्रकृति के (संकल्पशक्ति के) वशीभूत अतः अवश (अस्वतन्त्र) समस्त भूतवर्ग को पुनः पुनः विसृजामि—दोनों प्रकार से बारंबार सृजन करता हूँ। स्वप्नदृश्य की सृष्टि भी इसी प्रकार से ही होती है। (१) स्वप्नद्रष्टा ने पूर्णविश्राम लेने के लिये ही शयन किया था स्वप्न देखने का कोई प्रयोजन बोध उसका नहीं था। किन्तु स्वप्नद्रष्टा में स्वभावरूप से जो कल्पनाशक्ति विद्यमान है उसी कल्पना के प्रभाव से स्वतः ही स्वप्नदृश्य (जिस में देव, मनुष्य इत्यादि अर्थात् स्थावर जंगम सभी प्रकार के भूतों का समावेश है, इस प्रकार दृश्य) उपस्थित हो जाता है। उस स्वप्नदृश्य में जितना नाम, जितना रूप तथा जितनी क्रियाएँ दिखाई देती हैं वे सभी स्वप्नद्रष्टा की कल्पना के प्रभाव से होती हैं—पृथक् पृथक् व्यक्ति की कोई स्वतन्त्रता नहीं है अर्थात् वे सब स्वप्नद्रष्टा की कल्पना के वशीभूत होकर ही अवशभाव से अपना अपना अभिनय कठपुतली की भाँति करते हैं। फिर स्वप्न का भंग होने पर सब स्वप्नद्रष्टा में ही लीन हो जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक स्वप्न में भूतवर्ग पुनः पुनः आविर्भूत होते हैं किन्तु स्वप्नद्रष्टा ज्यों का त्यों एक ही रूप से विद्यमान रहता है—किसी स्वप्नदृश्य से उसका सम्बन्ध नहीं रहता है। स्वप्न में कोई दुःखी अथवा कोई सुखी भी देखा जाता है किन्तु इसलिये स्वप्नद्रष्टा में पक्षपातित्व का आरोप भी नहीं हो सकता है क्योंकि वे सभी कल्पित अर्थात् मिथ्या (सत्ताहीन) दृश्य है। जगत्सृष्टि व्यापार में

भी ठीक इसी प्रकार ही होता है, विश्वप्रपञ्च परमात्मा में स्वप्न की भाँति प्रतीत हो रहा है अतः सभी भूतवर्ग उनकी प्रकृति के वश से (संकल्प के प्रभाव से) अस्वतन्त्र होकर पुनः पुनः सृष्ट होते हैं एवं प्रलयकाल में (अर्थात् परमात्मा के स्वप्न का अवसान होने पर) परमात्मा में ही लीन होते हैं। कल्पित सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय—सभी मिथ्या हैं, इनसे असंग, सदाशान्त, सच्चिदानंदस्वरूप संसर्ग का गन्धमात्र भी सम्भव नहीं है। जगत् की सृष्टि-स्थिति-प्रलय कार्य माया से ही परमात्मा के सान्निध्यमात्र से सम्पन्न होते हैं। अज्ञान के कारण इस माया के कार्य परमात्मा में आरोपित होता है एवं ईश्वरत्व भी उसी कारणसे ही निष्क्रिय, अखण्ड, शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा में आरोपित होता है। तत्त्वज्ञान होने पर जीव, जगत् तथा ईश्वर सभी एकमात्र परमात्मस्वरूप में (ब्रह्मस्वरूप में) परिणत होते हैं।

श्लोक के 'प्रकृतिम स्वाम् अवष्टभ्य' पद में 'अवष्टभ्य' शब्द की व्याख्या भिन्न भिन्न टीकाकारोंने भिन्न भिन्न प्रकार से किया है यथा, अवष्टभ्य=वशीकृत्य (शंकराचार्य), स्वसत्तास्फूर्तिभ्यां दृढीकृत्य (मधुसूदन) अधिष्ठाय (श्रीधर) उपादाय (शंकरानन्द), अष्टधा विभज्य (विहारिलाल आचार्य)। भगवान की दो प्रकृतियाँ (गीता ७।४-५) (क) अपरा प्रकृति (भूमि आदि पञ्चभूत एवं मन, बुद्धि, अहंकार, इनको सांख्यशास्त्र में अप्रकृति-विकृति कहते हैं।), (ख) परा प्रकृति अर्थात् जीवचैतन्य। इन दोनों प्रकृतियों का आश्रय कर किस प्रकार से भगवान् (परमात्मा) जगत्सृष्टि व्यापार सम्पन्न करता है, वह श्रुति में स्पष्टरूप से कहा गया है—'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत्। यदिदं किञ्च। तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'। (तै० उ० २।६) [इस परमात्माने यह कामना (संकल्प) किया कि मैं बहु होकर उत्पन्न हूंगा। उसने सृष्टि के विज्ञान के सम्बन्ध में आलोचना किया एवं ज्ञान की आलोचना कर सब कुछ की सृष्टि किया। इस प्रकार सभी दृश्य प्रपञ्च की सृष्टि कर उनमें स्वयं प्रवेश किया।] जिस प्रकार स्वप्न देखनेवाला पुरुष अपने संकल्प से पञ्चमहाभूत मन, बुद्धि, अहंकार की सृष्टिकर स्वप्नदृश्य में स्थित सब भूतों की पृथक् पृथक् शरीर तथा मन, बुद्धि अहंकार की सृष्टि करता है एवं साथ साथ जीवचैतन्य रूपसे प्रत्येक प्राणी में प्रवेश कर जड़ शरीरों को सत्ता तथा स्फूर्ति देकर चेतन की भाँति कर्म कराता है, उसी प्रकार भगवान् भी अपनी अपरा प्रकृति को अष्टभागों में विभक्तकर विश्व की सृष्टि कर परा प्रकृति द्वारा जीवरूप से प्रवेश कर इस विश्वनाटक का अभिनय सम्पादन कर रहा है, यही 'स्वाम् प्रकृतिम् अवष्टभ्य' पद का तात्पर्य है। भगवान् प्रकृति

(माया) का अधीश्वर है अर्थात् माया उनके आधिन है, यह सूचित करने के लिये 'स्वाम्' (अपनी) शब्द का प्रयोग हुआ। और जीव तथा जगत् माया (अविद्या) के अधीन हैं, इसलिये 'प्रकृतेर्वशात् अवशः' अर्थात् प्रकृति के वशीभूत होने के कारण अवश (अस्वतन्त्र), ऐसा कहा गया है, ठीक जैसा स्वप्नदृश्य का सब कुछ स्वप्नद्रष्टा के संकल्प के अधीन है। 'पुनः पुनः' शब्दों से यह सूचित हुआ है कि जगत् अनादि है अर्थात् जगत् असंख्य बार उत्पन्न हुआ और नाश प्राप्त हुआ है। पारमार्थिक दृष्टि से वे सब ही कल्पित अर्थात् मिथ्या है, यह पहले ही स्पष्ट किया गया है।

[अब प्रश्न है तुम परमेश्वर यदि विषम (सुखी, दुःखी, धनी, निर्धन, जड़, चेतन इत्यादि प्रकार के) भूत समूह की सृष्टि किये हो तब उस विषम सृष्टि रचना के निमित्त धर्म तथा अधर्म के साथ भी अर्थात् पुण्य पाप से तुम्हारा निश्चय ही सम्बन्ध होता होगा ? ऐसी शंका के निराकरण के लिए भगवान् कह रहे हैं:—]

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

अन्वय—हे धनंजय। तेषु कर्मसु असक्तम् उदासीनवत् आसीनं मां तानि कर्माणि न निबध्नन्ति।

अनुवाद—हे धनंजय। उस (सृष्ट्यादि) कर्मों में अनासक्त एवं उदासीन के समान स्थित मुझे वे कर्मसमूह आवद्ध नहीं कर सकते हैं।

भाष्यदीपिका। हे **धनंजय**—हे अर्जुन! धनंजय कहकर सम्बोधन करने का अभिप्राय यह है कि 'तुम युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के लिये समस्त राजाओं को ही जीतकर धन संग्रह किये थे। इस जीवन यज्ञ में भी तुम समस्त प्रतिबन्ध को (बाधाओं को) जीत कर जीवन्मुक्ति रूप महाधन प्राप्त करके मेरे समान ही अनासक्त तथा उदासीन होकर समस्त कर्म कर सकोगे, यह कहकर भगवान् अर्जुन को उत्साहित कर रहे हैं।

तेषु कर्मसु—उन कर्मों में अर्थात् भूतवर्गों की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय रूप कर्म में **असक्तम्**—मैं (आत्मा) अविक्रिय (निर्विकार) स्वभाववाला हूँ। अतः किसी अवस्था में ही विकार को नहीं प्राप्त होता हूँ, क्योंकि समस्त कर्मों में मैं असक्त हूँ अर्थात् कर्म के फलों के साथ मेरा संग (आसक्ति) नहीं रहता है। फिर 'मैं कर्म कर रहा हूँ,' ऐसा अभिमान (कर्तृत्वाभिमान) भी मेरा नहीं है, [कर्मासक्ति मुझमें नहीं है क्योंकि मैं

आप्तकाम हूँ। कर्मासक्ति ही बन्धन का हेतु है (श्रीधर)] अतः **उदासीनवत् आसीनम् माम्**—उदासीन के समान अवस्थित मुझको (ईश्वर को) जिस प्रकार कोई उदासीन (उपेक्षा करने वाला) व्यक्ति दो विवाद करने वालों के जय और पराजय से सम्बन्ध न रखने के कारण दोनों में से किसी को जय में हर्ष से अथवा पराजय में विषाद से (निर्लिप्त असंश्लिष्ट) तथा निर्विकार रहता है, उसी प्रकार मैं भी निर्विकार रूप से आसीन (स्थित) रहता हूँ। लौकिक व्यापार में उपेक्षक अथवा उदासीन व्यक्ति के साथ भगवान का उपेक्षकत्वमात्र में साधर्म्य (सादृश्य) है, इसे ही सूचित करने के लिए सादृश्यार्थक 'वत' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। [उदासीन रहता हूँ इसलिए मुझे कर्म बन्धन नहीं होता है क्योंकि उदासीन के लिए कर्तृत्व (कर्तृत्वाभिमान) रहना सम्भव नहीं है (श्रीधर)।] कर्म तथा कर्मफल में आसक्ति, एवं कर्तृत्वाभिमान ये दोनों ही संसार के बीज हैं एवं वे ही संसार बन्धन के कारण हैं। चुँकि मैं 'असक्त' हूँ (कर्म तथा कर्मफल में आसक्ति-हीन हूँ),–एवं 'उदासीनवत्' (कर्तृत्वाभिमान रहित हूँ), इसलिए **तानि कर्माणि**—भूतवर्ग को विषम रूप से सृष्टि के निमित्त कर्म (कर्मजनित पाप तथा पुण्य) **न निबध्नन्ति**—बन्धन नहीं कर सकते हैं (नहीं बाँधते) सृष्टि विषम है कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई धनी कोई निर्धन है किन्तु भगवान कह रहे हैं कि मायावी अथवा स्वप्नदर्शी के समान सृष्टि स्थिति तथा प्रलय रूप कार्य मेरे कर्तृक सम्पन्न होते हुए भी वे कर्म मुझे आबद्ध नहीं कर सकते हैं। क्योंकि वे सब काल्पनिक (मिथ्याभूत) है अतः सृष्ट जीव के ऊपर अनुग्रह अथवा निग्रह करने से मुझको किसी प्रकार के पाप तथा पुण्य का भागी नहीं कर सकता है। ये सब सृष्टयादि कार्य मेरी अघटनघटनपटीयसी माया अथवा कल्पनाशक्ति के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं अतः मेरी माया की सृष्टयादि कार्य में मेरे कर्तृत्वाभिमान तथा फलाकांक्षा नहीं रहने के कारण मैं केवल द्रष्टारूप से आसक्त तथा उदासीन रूप से अवस्थान करता हूँ। इस लिये कोई कर्म मुझे आबद्ध नहीं कर सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि आत्मा सर्वावस्था में असंग है एवं केवल साक्षी रूप से स्थित है, अतः कर्म अथवा कर्मफल आत्मा को किसी प्रकार से लिप्त नहीं कर सकता है। इसके द्वारा यह बात भी कही गई है कि यदि दूसरे किसी व्यक्ति का भी कर्म करते समय 'मैं इसका कर्त्ता नहीं हूँ' एवं 'मैं इसका फलभोक्ता नहीं हूँ' इस प्रकार कर्तृत्वाभिमान और फल की आसक्ति का अभाव रहे तो वह व्यक्ति समस्त कर्म करते रहने पर भी सब कर्म उसके बन्धन का कारण नहीं हो

सकते। पक्षान्तर में जिस व्यक्ति के कर्म में कर्तृत्वाभिमान एवं कर्मफल में आसक्ति रहती है वह मूढ़ व्यक्ति कोषकार के समान (रेशम के कीडे के समान) स्वकृत कर्मजाल में आबद्ध होता है (मधुसूदन)।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—और यदि कहो कि इस प्रकार सृष्ट्यादि नानाविध कर्म करते हुए तुम्हारा जीव के समान बन्धन क्यों नहीं होता है ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं—तानि कर्माणि तेषु कर्मसु असक्तं माम् न च निबध्नन्ति—(हे धनंजय) वे सृष्ट्यादि कर्म मुझे नहीं बाँधते हैं क्योंकि कर्म में आसक्ति ही (कर्म फल में आसक्ति ही) बन्धन का कारण होता है। मैं आप्तकाम (पूर्णकाम) हूँ अतः कोई विषय का प्रयोजन मेरा नहीं है इस लिये कर्मों की आसक्ति मुझमें नहीं है। अतः उदासीनवत् आसीनः (अहं वर्ते)—उदासीन के समान विद्यमान मुझ ईश्वर को वे कर्म नहीं बाँध सकते। उदासीन व्यक्ति में कर्तापन (कर्तृत्व) नहीं रहता है और कर्तृत्वबुद्धि रहने पर उदासीनता सम्भव नहीं होती है। इस लिये भगवान ने कहा कि 'मैं उदासीन के समान स्थित हूँ' [अर्थात् मेरे सान्निध्यमात्र से सृष्टि आदि व्यापार माया से सम्पादित हो रहा है—पारमार्थिक दृष्टि से इन सब व्यापारों में मैं अकर्ता तथा उदासीन द्रष्टामात्र हूँ।]

(२) शंकरानन्द—(शंका) पूर्वश्लोक में जैसा कहा गया है वैसा यदि तुम भूतसमूह को नाना योनियों में जन्म देने वाले, वारंवार संहार करने वाले एवं स्वर्ग तथा नरक को प्राप्त कराने वाले हो तो तुम्हारे साथ उन सब पुण्य-पापरूप कर्म का सम्बन्ध अवश्य होगा। (समाधान)—नहीं, भूतों का संहार, सृष्टि एवं सुख दुःखादि रूप फल का प्राप्त कराना, ये सब प्रकृति का ही कर्म है—सर्वभूतों की आत्मा मुझ सर्व प्रकार से विकार रहित, असंग तथा अव्यक्त मूर्ति के साथ कर्म के लेश (बिन्दु) मात्र का भी वस्तुतः सम्बन्ध नहीं है। अतः प्रकृति द्वारा किये हुये सृष्टि आदि व्यापारों में स्वयं (भगवान्) असंग व उदासीन रहते हैं, यह प्रतिपादन करते हैं—न च मां तानि कर्माणि—यहाँ 'च' शब्द का (तु) के अर्थ में प्रयोग किया गया है। भूतों की सृष्टि तथा संहार आदि प्रकृति द्वारा किये हुए कर्म समूह मुझे (असंग, अविक्रिय, तटस्थ परमात्मा को) किन्तु न निबध्नन्ति—नहीं बाँधते अर्थात मेरे (परमात्मा के) बन्धन का कारण नहीं होते हैं (मुझे स्पर्श भी नहीं कर सकते) अब अपने तटस्थत्व का प्रतिपादन कर रहे हैं—तेषु कर्मसु उदासीनवत् आसीनम् असक्तम्—उन प्रकृति द्वारा किये जानेवाले सृष्टि आदि कर्म समूह में असक्त (सक्ति शब्द का अर्थ है संयोग सम्बन्ध, उससे

रहित होने के कारण असंग) मैं हूँ, अतः मैं उदासीन के समान (चुपचाप स्थित रहने वाले तटस्थ के समान) प्रकृति के कार्यों के साक्षी रूप से दूर (अर्थात् पृथक् रूप से) आसान (स्थित) होकर रहता हूँ। इसलिये प्रकृति का कोई भी कार्य मुझे स्पर्श नहीं कर सकता है। इससे यही सूचित किया गया है कि जो आत्मा (प्रकृति रूप) उपाधि में, उपाधि के धर्मों में एवं उपाधि के कर्मों में असक्त होकर उनके साक्षी रूप से स्थित है, उस आकाश के समान असंग, अविकारी आत्माको जो जानता है, वह ब्रह्मवित् यति प्रकृति रूप उपाधि से कृत विहित अथवा निषिद्ध कोई भी कर्म से बद्ध नहीं होता है।

(३) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती श्लोक में श्रीभगवान ने कहा 'प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः'। अतः शंका होगी 'तुम जब सृष्टि-स्थिति-प्रलयरूप कर्म करते हो एवं जीवों का कर्मफल, विधान करते हो, तब तुम्हारा भी बन्धन निश्चय होगा ?' इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं—नहीं, जिस प्रकार मायावी या स्वप्नद्रष्टा कुछ भी पदार्थ को वस्तुतः सृष्टि कर, केवल संकल्प-बल से सब कुछ मनो सृष्टिकर दिखाता है या दिखता है किन्तु वे सब मिथ्याभूत होने के कारण उनसे न तो संस्पृष्ट होता है और न तो उस कल्पित सृष्टिरूप कर्म से उसका कोई बन्धन होता है। उसी प्रकार मैं भी माया से सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय कार्य सम्पन्न करता हूँ एवं वे सब परमार्थतः मिथ्या होने के कारण वे मुझको नहीं बाँधते हैं अर्थात् उन कर्मों को सुकृति (पुण्य) तथा दुष्कृति (पाप) का भागी नहीं कर सकते हैं। मैं माया से कर्म करता हुआ भी उन कर्मों के फल में अनासक्त (अर्थात् फलाकांक्षा रहित) होने के कारण उदासीनवत (उदासीन की भाँति) निर्विकार रहता हूँ।

(प्रश्न)—कोई विशेष व्यापार से यदि किसी का सुख या दुःख न हो तो उस पुरुष को उदासीन कहा जाता है। तुम माया से कर्म करते रहने पर भी अपने स्वरूप के विज्ञान से तुम कभी च्युत नहीं होते हो इस लिए तुमको मिथ्या संसार का सुख-दुःख स्पर्श नहीं कर सकता, अतः तुम उदासीन रूप से सदा ही स्वरूप में स्थित रहते हो यह बात तो समझ में आती है परन्तु तुमने अपने को 'उदासीन' न कह कर 'उदासीनवत्' स्थित रहते हो, ऐसा क्यों कहा ?

(उत्तर)—यदि कोई उपेक्षा करने वाला पुरुष दो विवाद करने वालों के जय और पराजय से कोई सम्बन्ध न रखे एवं उस विवाद से होने वाले हर्ष और विषाद से असंश्लिष्ट एवं निर्विकार (अनासक्त) रहे तो उस पुरुष को

उदासीन कहा जाता है। मैं सृष्टि-स्थिति-संहार के व्यापारों में उसी प्रकार उदासीन रहता हूँ किन्तु उस उदासीन पुरुष और मुझमें पार्थक्य यह है—मेरे संकल्प से (माया से) ही जगत् सृष्टि इत्यादि हो रही है एवं उस से ही कोई सुखी और कोई दुःखी, किसी का जय और किसी का पराजय—इस प्रकार अभिनय (नाटक) हो रहा है। अतः उक्त उदासीन पुरुष जिस प्रकार दो विवादमान पुरुषों से सम्पूर्ण पृथक् है एवं इस कारण से उसके लिए पूर्णरूप से उदासीन (उपेक्षक) होना सम्भव है, मैं ऐसा नहीं हूँ क्योंकि विश्वनाटक में जो कुछ हो रहा है, वह मुझसे अतिरिक्त (पृथक्) नहीं है। मैं ही उन सब का अधिष्ठान हूँ—मेरी सत्ता से वे सब सत्तावान् हैं एवं मेरी चित्शक्ति से (प्रकाश से) ही प्रकाशित हो रहे हैं। इस लिये मुझको पूर्णरूप से उदासीन कहना भी युक्त (ठीक) नहीं है। किन्तु (क) वे सब केवल माया के कार्य होने के कारण मेरा (सदा स्वरूप में स्थित निर्विकार विज्ञानघन परमात्मा का) इनमें किसी प्रकार का कर्तृत्वाभिमान नहीं है, अतः मैं उदासीन पुरुष के समान (उदासीनवत) स्थिर अचल रहता हूँ। (ख) 'वे सब कल्पित अर्थात् मिथ्या है' यह बोध सदा जाग्रत रहने के कारण मैं सम्पूर्ण रूप से माया के कार्यों में असक्त (फलाकांक्षा से रहित) हूँ, इस कारण से भी मेरे लिये उदासीनवत् रहना सम्भव है। (ग) दृश्यप्रपञ्च में सुखदु ख पाप पुण्य जयपराजय इत्यादि का जो कुछ नाटक दीख रहा है वह चलचित्र के दृश्य की भाँति प्रतीतिमात्र है—उनकी कोई परमार्थ (वास्तविक) सत्ता नहीं है। अतः बाह्य दृष्टि से अनुग्रह या निग्रह अथवा असंख्य विषमता प्रतीत होने पर भी उनकी सत्ता के अभाव के कारण उस विषम जगत् व्यापारों से मैं उदासीन पुरुष के समान (उदासीनवत्) असंश्लिष्ट एवं निर्विकार हो रहता हूँ। (घ) जिस प्रकार मेघ (बादल) उत्कृष्ट तथा निकृष्ट सभी बीजों पर समान भाव से वर्षण करता है किन्तु पृथक् पृथक् बीज के अनुसार भिन्न भिन्न फल उत्पन्न होते हैं तथापि बादल का उत्कृष्ट बीज के प्रति अनुराग तथा निकृष्ट बीज के प्रति द्वेष नहीं रहता है, उसी प्रकार मेरा सब दृश्य वस्तुओं के समान रूप से अधिष्ठान होने पर भी (एवं सर्वत्र सम होने पर भी गीता ९।२९) मेरा रागद्वेष नहीं है। अतः विषमता तथा निर्दयतारूप दोष मुझमें आरोपित नहीं हो सकता अर्थात् मैं उदासीन पुरुष के समान (उदासीनवत्) निर्लिप्त तथा असंग रहता हूँ।

उदासीन पुरुष का जैसे दो विवाद करने वालों के विवाद में कर्तृत्वाभिमानशून्यता, विवाद के शुभ तथा अशुभ फलो में आकांक्षा आसक्ति-

शून्यता उपेक्षा निर्विकारत्व एवं विवाद से उत्पन्न पाप या पुण्यों से असंश्लिष्टता रहती है, उसी प्रकार सृष्टि आदि व्यापारों में मुझको भी ऐसा ही रहता है। अतः मुझको सृष्टि आदि कार्य बद्ध नहीं कर सकते एवं मैं भी उदासीन के समान असक्त (निर्विकार) होकर अपने स्वरूप में सदा ही स्थित रहता हूँ यही कहने का तात्पर्य है। उदासीन व्यक्ति से जो वस्तु के प्रति उसकी उदासीनता रहेगी, वह पृथक् होना चाहिए किन्तु मैं (परमात्मा) ही एकमात्र नित्यसत्य वस्तु होने के कारण मुझसे कोई भिन्न (पृथक्) वस्तु नहीं है। (गीता ७।७) अतः उदासीन (उपेक्षा करने वाला) एवं उपेक्षा करने के योग्य वस्तु में कोई भेद न रहने कारण मेरी परमात्मा की स्थिति उदासीनवत् है, यह कहना युक्तियुक्त ही है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो कोई कर्तृत्वाभिमान तथा फलाकांक्षा रहित होकर उदासीन के समान स्थिति लाभ कर सकता है, उस ब्रह्मवित् पुरुष को भी कर्म शुभाशुभ फल से संसार में बद्ध नहीं कर सकता।

[८ वें श्लोक में कहा गया है कि मैं भूतसमूह की विविध प्रकार से सृष्टि करता हूँ, ९ वें श्लोक में कहा गया है कि 'सृष्टि आदि व्यापारो में मैं उदासीन के समान स्थित रहता हूँ'—ये दो वाक्य परस्पर विरुद्ध हैं, ऐसी शंका हो सकती है। इसलिए उसका परिहार करने के लिए भगवान सृष्टितत्त्व को और भी स्पष्ट कर रहे हैं—]

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

अन्वय—प्रकृतिः मया अध्यक्षेण सचराचरम् सूयते हे कौन्तेय! अनेन हेतुना जगत् विपरिवर्तते।

अनुवाद—प्रकृतिः—प्रकृति जिसे सत्‌रूप से अथवा असत् रूप से निरूपण नहीं किया जा सकता है वह मेरी त्रिगुणात्मिका अविद्यालक्षण प्रकृति मया अध्यक्षेण—सब ओर से द्रष्टामात्र ही जिसका स्वरूप है ऐसे निर्विकार स्वरूप मुझ अधिष्ठाता से प्रेरित होकर [अर्थात् अविक्रिय स्वभाव दृशिमात्र (चिन्मात्र) स्वरूप नियन्ता (सर्वप्रकाशक) मेरे द्वारा अवभासित (प्रकाशित) होकर (मधुसूदन)] चराचरम्—चर अर्थात् जंगम (जो चलता है) एवं अचर अर्थात् स्थावर (जो चलता नहीं है, स्थिर रहता है)। ऐसा चराचरात्मक जगत को सूयते—उत्पन्न करती है। [जैसे मायावी द्वारा कल्पित हाथी घोड़े आदि की रचना होती है (मधुसूदन)] अथवा चुम्बक लोहे के

केवल सान्निध्य के कारण जिस प्रकार लोहे की कणें आकृष्ट हो जाती है किन्तु उसमें चुम्बक लोहे का कोई कर्तृत्व नहीं है उसी प्रकार मेरे सान्निध्य से अथवा अधिष्ठान सत्ता से प्रकृति की (माया की) सचराचर सृष्टि प्रभृति कर्म सम्पन्न होते हैं। अतः माया को तथा माया के कार्यको प्रकाशित करने के सिवा सृष्टयादि कार्य में मेरा कोई कर्तृत्व नहीं है। यदि कहा जाय कि प्रकाश करना रूप कर्म का तो कर्तृत्व है ? उसके उत्तर में कहूँगा, नहीं सूर्य जगत को प्रकाश कर रहा है तथापि जिस प्रकार सूर्य का कोई कर्तृत्व नहीं रहता है क्योंकि सूर्य का स्वभाव प्रकाश करना ही है एवं उसके फलस्वरूप ही जगत् स्वय ही प्रकाशित होता है, उसीप्रकार प्रकाश स्वरूप मेरे ऊपर कल्पित होने के कारण मेरे ही प्रकाश से उस माया तथा माया के कार्य समूह प्रकाशित होते हैं द्वैतप्रपंचरूप इन्द्रजाल का उपादान कारण है अज्ञान (माया) एवं मैं ही (ब्रह्म ही) उस माया का अधिष्ठान हूँ। मेरे बिना माया की सत्ता का प्रकाश होना भी सम्भव नहीं है, इसलिए माया का कार्य मुझमें आरोपित होकर मुझको (ब्रह्म को) जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण अज्ञानवश कहा जाता है। वस्तुतः सृष्टि प्रकृति का ही (माया का ही) कार्य है अतः मुझमें कर्तृत्व आरोपित होने से भी परमार्थतः मेरा कोई कर्तृत्व नहीं है। मैं समस्त कल्पित जागतिक वस्तु के अधिष्ठान रूप (अधिष्ठाता होकर) दृशिमात्रस्वरूप से किसी अवस्था में विकार को प्राप्त न करके अवस्थान करता हूँ। मेरे चित्स्वरूप से ही जड़ प्रकृति का (माया का) सृष्टयादि कार्य प्रकाशित होता है, इसे ही मेरी अध्यक्षता—कही जाती है। अतः अज्ञान–दृष्टि से मैं सृष्टयादि कार्य का कर्त्ता होने पर भी परमार्थ दृष्टि से मुझमें कर्तृत्वादि नहीं है, मैं तो इसलिए सभी कर्मों में सदा ही 'उदासीनवत् आसीन' रहता हूँ एवं सर्व कर्म फल के सम्बन्ध में भी 'असक्त' रहता हूँ। अतः ८ वें श्लोक में तथा ९ वें श्लोक में जो कहा गया उसमें कोई विरोध नहीं है। इसलिए ही मेरे स्वरूप के सम्बन्ध में श्रुति में कहा गया है 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च (श्वेता० उ० ६–११) अर्थात् वह देव (स्वप्रकाशस्वरूप आत्मा) एक (अद्वितीय) है वह सकल भूतों में गूढरूप से (गुप्त रूप से) अवस्थित है वह सभी में व्याप्त है एवं समस्त भूतों का अन्तरात्मा है वह कर्मों का अध्यक्ष (नियन्ता) है, समस्तभूत ही उनका आश्रय कर विद्यमान हैं, वह साक्षीस्वरूप, चैतन्यस्वरूप, केवल (सर्वोपाधिशून्य) तथा निर्गुण (धर्माधर्मरहित) है परन्तु वह परमदेव भगवान् उदासीन साक्षीमात्र होने पर भी उसके सान्निध्य से [जिस प्रकार चुम्बक के समक्ष लोहे की कणें

स्वभावतः ही चालित होती हैं उसी प्रकार] इस मायामय जगत् की पुनः पुनः सृष्टि-स्थिति-प्रलय होते रहते हैं यही अब स्पष्ट किया जा रहा है। हे कौन्तेय-हे अर्जुन ! [तुम भी तुम्हारी माता कुन्ती के समान मेरा परम भक्त हो, मेरे भक्त के लिये इस बात को समझना कठिन नहीं है यह सूचित करने के लिये यहाँ कौन्तेय शब्द से भगवान् ने अर्जुन को सम्बोधन किया है। अनेन हेतुना—मेरी अचिन्तनीया मायाशक्ति केवल मेरे सान्निध्य से (अर्थात् साक्षित्व से) मुझको ही अधिष्ठान कर सृष्टि तथा संहार कार्य में प्रेरित होती है। अतः मेरा सान्निध्य ही मायाकी सृष्टि में प्रेरक या नियामक होने के कारण मुझको अध्यक्ष कहा जाता है। अतः मेरे अध्यक्षत्वरूप (नियामकत्वरूप) कारण से जगत् विपरिवर्तते—चराचर सहित व्यक्त (मूर्त) तथा अव्यक्त (अमूर्त) अथवा [व्यक्त (कार्य) एवं अव्यक्त (कारण) आत्मक] समस्त जगत् विपरिवर्तते विविध (नाना रूप से) परिवर्तित होता है अर्थात् सब अवस्थाओं में परिवर्तित होता है [जायते (जन्म लेता है), अस्ति (विद्यमान रहता है), वर्द्धते (वृद्धि प्राप्त होता है), विपरिणमते (परिणाम को प्राप्त होता है), अपक्षीयते (क्षय प्राप्त होता है), नश्यति (नाश को प्राप्त होता है)। इस प्रकार जन्म से ले कर विनाश पर्यन्त निरन्तर विकारसमूह को प्राप्त होता रहता है (मधुसूदन)।] उदासीन तथा परमार्थतः कर्तृत्व (भोक्तृत्व) रहित केवल साक्षीमात्र परमात्मा के अधीन हो कर ही कार्य तथा कारण की प्रवृत्ति होती है। इसे ही समझाने के लिये भाष्य में 'व्यक्त' तथा 'अव्यक्त' शब्द का उल्लेख किया गया है। किन्तु जागतिक लोगों की प्रवृत्ति तो स्वतः ही कार्यकरी हो रही है, अतः वे लोग ईश्वराधीन नहीं हैं, ऐसी आशंका हो सकती है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है (आनन्दगिरि) कि नहीं, ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि दृश्य जगत् जड़ है, अतः चैतन्य-स्वरूप दृशि (द्रष्टा) के द्वारा जब तक व्याप्त न हो (चेतन के ज्ञान का विषय न हो) तब तक जागतिक जड़ में कर्मों की कोई प्रवृत्ति सम्भव नहीं है अर्थात् जगत् की समस्त प्रवृत्तियाँ साक्षी का (चेतन के ज्ञान का) विषय बनने के लिये हो हैं। दृष्टान्त के रूप से कहा जा सकता है कि 'मैं यह भोग करूँगा, मैं यह देख रहा हूँ, मैं यह सुन रहा हूँ, मैं दुःखानुभव कर रहा हूँ, मैं सुखानुभव कर रहा हूँ उसके लिए अमुक कार्य करूँगा, इसके लिए अमुक कार्य करूँगा, अमुक वस्तु को जानूँगा,' इत्यादि जगत की समस्त प्रवृत्तियाँ ज्ञान के अधीन हैं और ज्ञान में ही लय हो जाने वाली हैं। 'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्' (तै० ब्रा० २।८।९) अर्थात् जो इस

जगत् का अध्यक्ष साक्षी चेतन है वह परम आकाश में (हृदयाकाश में) स्थित है इत्यादि वेद मन्त्र भी यही अर्थ दिखला रहे हैं। जब कि सब का अध्यक्षरूप चैतन्यमात्र एक देव (अर्थात् परमात्मा) वास्तव में समस्त भोगों के सम्बन्ध से रहित है और उसके बिना अन्य चेतन सत्ता न रहने के कारण दूसरे भोक्ता का अभाव है तो यह सृष्टि किसके लिए हैं? इस प्रकार का प्रश्न तथा उसके उत्तर— यह दोनों ही नहीं बन सकते क्योंकि यह विषय अनिर्वचनीय है। वेद के मन्त्रों से भी यही बात कही गयी है—'को अद्धा वेद क इह प्रावोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः' (तै० ब्रा० २।८ ९) [अर्थात् इसको साक्षात् कौन जानता है—इस विषय में कौन कह सकता है? यह जगत् कहाँ से आया? किस कारण इसकी रचना हुई?] इस के सिवा भगवान ने भी गीता में कहा है कि 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' (गीता ५।१५) अर्थात् अज्ञान से ज्ञान आवृत हो रहा है इस लिये जीव मोहित हो रहे हैं। [कहने का अभिप्राय यह है कि शुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म जब कल्पनाशक्ति को (जिसको प्रकृति या माया कही जाती है उसको) उपाधिरूप से स्वाकार करता है तब उस माया से जगत् चित्रतया उसकी सृष्टि-स्थिति-प्रलयरूप विपरिणाम अवभाषित होती है। जो वस्तुतः है नहीं परन्तु प्रतीतमात्र होता है वही माया है। जगत् माया का कार्य होने के कारण मिथ्या है, अर्थात् परब्रह्म परमात्मा की अध्यक्षता से, अर्थात् परब्रह्म को अधिष्ठान कर के रज्जु सर्पवत् विवर्तमात्र है। मिथ्या वस्तु की सृष्टि का कर्तृत्व परमात्मा में सम्भव नहीं है। फिर परमात्मा के बिना अन्य कोई चेतन सत्ता न रहने के कारण दूसरे का भी सृष्टि व्यापार में कर्तृत्व सम्भव नहीं है। अतः यही प्रमाणित होता है कि जगत् की सृष्टि स्थिति-प्रलय वस्तुतः कभी होता ही नहीं—ये सभी कल्पना तथा उसका मूल कारण अज्ञान से प्रतीत होते हैं।

परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होने पर उनसे अतिरिक्त अन्य कुछ भी द्वैत वस्तु दृष्ट नहीं होती है। अतः आठवें श्लोक में भगवान ने जो कहा है कि 'विसृजामि पुनः पुनः' उसका तात्पर्य यह है कि केवल भासकत्वरूप व्यापार से ही अर्थात् अपने सान्निध्य तथा प्रकाश से ही 'मैं रचता हूँ' और इतने ही से सूर्य जिस प्रकार मायारचित जगत् को प्रकाशित करता है किन्तु जगत् की सृष्टि के व्यापार में उसका कर्तृत्व नहीं है, उसी प्रकार मेरा भी कर्तृत्व का अभाव होने के कारण उदासीनवत्। (उदासीन के समान) मैं स्थित रहता हूँ (गीता ९।९)। इस लिये 'मैं रचता हूँ' और 'मैं उदासीन के समान रहता हूँ'—इन दोनों उक्तियों में विरोध नहीं है। कहा भी है—'अस्य

द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम्। अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते'॥ अर्थात् इस द्वैतरूप इन्द्रजाल का उपादान कारण है अज्ञान। उस अज्ञान का आश्रय लेकर ही ब्रह्म को (सृष्टि आदि का) कारण कहा जाता है। इस अर्थ का समर्थन करते हुए सहस्रों श्रुति और स्मृति के बचन उद्धृत किये जा सकते हैं।

टिप्पणी (१) श्रीधर—पूर्वोक्त विषय का उपपादन करते हैं—मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सचराचरं सूयते—मुझ अध्यक्ष के (अधिष्ठाता के) द्वारा अर्थात् मुझ परमात्मा को अधिष्ठान (आश्रय) कर प्रकृति चराचर प्राणियों के सहित विश्व की सृष्टि करती है। अनेन हेतुना जगत् विपरिवर्तते—इस मेरे अधिष्ठानरूप हेतु से यह जगत् परिवर्तित हो रहा है अर्थात् पुनः पुनः उत्पन्न होता रहता है। मैं संनिधिमात्र से ही अधिष्ठाता हूँ। इसलिये सृष्टि आदि व्यापार में (औपचारिक भाव से) कर्ता होना और (पारमार्थिक दृष्टि से) उदासीन होना मुझ में विरुद्ध नहीं है।

(२) शंकरानंद—प्रकृति से जो सब कर्म किये जाते हैं उनमें भगवान् असंग तथा उदासीन रहते हैं यह जो पूर्व श्लोक में कहा गया है उसी का विशेषरूप से स्पष्टीकरण करते हैं—

मया अध्यक्षेण—राजा के समान जिसकी सन्निधिमात्र से प्रधान आदि की प्रवृत्ति होती है वह अध्यक्ष है अर्थात् कूटस्थ, असंग चित्स्वरूप साक्षी है। इस प्रकार मुझ अध्यक्ष से प्रकृतिः—अपनी प्रवृत्ति के कारणरूप मुझसे उपहित हुई प्रकृति ही सचराचरम् सूयते—चराचर (स्थावरजंगम) सहित वर्तमान सब जगत् को सृष्ट (स्थापन) करती है एवं संहार करती है। मैं तो केवल उन-उन प्रवृत्ति का साक्षीमात्र हूँ। अनेन हेतुना—मुझ साक्षी का केवल सान्निध्य मात्र ही प्रकृति की प्रवृत्ति का हेतु (कारण) होता है, अतएव इस प्रकार हेतु से जगत् विपरिवर्तते—अव्यक्त से लेकर स्थूल पर्यन्त समष्टि व्यष्टिरूप समस्त जगत् विपरिवर्तित होता है अर्थात् (विशेष प्रकार से अर्थात् सब प्रकार की) चेष्टा करता है। जैसे सब के साक्षी सूर्य के सान्निध्यमात्र से ही उसके प्रकाश के बल से सब प्राणियों की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति सिद्ध होती है, वैसे ही सब के साक्षी स्वरूप मेरे केवल सान्निध्य से मेरे प्रकाश के बल से देह, इन्द्रिय, प्राण, मन तथा बुद्धि आदि की अपने अपने विषयों में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति तथा इष्ट, अनिष्ट, सुख आदि का ज्ञान सिद्ध होता है। केवल इतना ही (अर्थात् साक्षीमात्ररूप से रहना ही) मेरा कार्य है—कर्म करना या कराना,

भोग करना या कराना, दान देना या दिलाना मुझ कूटस्थ, असंग, चिन्मूर्ति (ज्ञानस्वरूप) परमात्मा का कार्य नहीं है, यही कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—[इस श्लोक की विस्तृत व्याख्या भाष्य-दीपिका में दी गयी है।] सारांश यह है कि जगत् की रचना आदि क्रिया में प्रकृति ही उपादान कारण है अर्थात् प्रकृति (ब्रह्म के स्वभावरूप संकल्पशक्ति या माया) ही विश्वप्रपञ्च की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलयरूप कार्य सम्पादन कर रही है। किन्तु प्रकृति जड़ है—चेतन की प्रेरणा के विना प्रकृति कर्म नहीं कर सकती। परब्रह्म परमात्मा ही एकमात्र चेतनसत्ता है किन्तु वह सर्वोपाधिशून्य निर्गुण, निष्क्रिय, निर्विकार तथा असंग होने के कारण एक मनुष्य जैसे दूसरे मनुष्य को प्रेरणा अपनी बुद्धि से देता है, परमात्मा की प्रेरणा उस प्रकार नहीं हो सकती है। अयस्कान्त (चुम्बक लोहा—Magnet) जिस प्रकार केवल अपने सान्निध्य से लौह कणों को प्रेरित करता है, उसी प्रकार शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा केवल अपनी सन्निधि से अपनी प्रकृति को (चिन्त्य मायाशक्ति को) सत्ता तथा स्फूर्ति (प्रकाश) प्रदान कर प्रेरित करता है। प्रकृति (संकल्पशक्ति) संकल्प करनेवाले परमात्मा से भिन्न नहीं है, इसलिये शास्त्र में परमात्मा को "अभिन्न निमित्त-उपादान कारण" कहा गया है। तथापि सृष्टि आदि व्यापारों में साक्षात्‌रूप से परमात्मा में कोई कर्तृत्व न रहने के कारण उसके लिये उदासीन रहना सम्भव है। जिस प्रकार सूर्य प्रकाश द्वारा जागतिक समस्त भूतों को कार्य में प्रवृत्त करता है, किन्तु कोई कर्म के शुभाशुभ फल में आसक्त (लिप्त) नहीं होता अर्थात् सभी व्यापारों से उदासीन रहता है, उसी प्रकार परमात्मा के लिये निमित्त कारण होना और उदासीन रहना संभव है। अतः जगत् की रचना आदि क्रिया में जो विषमता-रूप दोष प्रतीत होता है वह माया में है—परमात्मा में नहीं। अतः भगवान् कहते हैं कि मेरी प्रकृति (संकल्परूप मायाशक्ति) मेरी अध्यक्षता से [मुझ निमित्त कारण से अर्थात् केवल द्रष्टृस्वरूप (साक्षी स्वरूप) मेरे सान्निध्य से] सचराचर (स्थावरजंगमात्मक अथवा कार्यकारणसहित) समस्त जगत् को रचती है। इस कारण से अर्थात् प्रकृति त्रिगुणात्मिका एवं सदा ही विकार-शील होने के कारण जगत् विविध प्रकार से परिवर्तित हो रहा है अर्थात् बारंबार उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय तथा विनाशरूप विकार प्राप्त हो रहा है। चैतन्यस्वरूप परमात्मा के आश्रय (सान्निध्य) विना जड़ माया स्वतंत्र भाव से जगत् को नहीं रच सकती और सत्-चित् आनन्द स्वरूप परमात्मा के निमित्तमात्र होने पर उसके स्वरूप को कोई हानि (विकार) नहीं होती—यही तात्पर्य है।

[इस प्रकार मैं यद्यपि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव तथा सभी प्राणियों की आत्मा हूँ तो भी—]

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

अन्वय—मम भूतमहेश्वरं परं भावम् अजानन्तः मूढाः मानुषीम् तनुम् आश्रितम् माम् अवजानन्ति ।

अनुवाद—मैं समस्त भूतों का महेश्वर हूँ (एवं आकाश का भी अन्तरतम हूँ), इस प्रकार मेरे परम भाव को (अर्थात् इस परमात्मतत्त्व को) मूढ़ (अज्ञ) व्यक्तिगण जानने में असमर्थ होने के कारण मेरी मनुष्य मूर्ति की अर्थात् मैं जो मनुष्य देह को आश्रय कर लीला करता हूँ उस मनुष्य मूर्ति की अवज्ञा (अनादर) करते हैं ।

भाष्यदीपिका । मम—मेरे अर्थात् नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव परमात्मा के भूतमहेश्वरं परं भावं—सब भूतों के (सर्वलोकों के) महान ईश्वररूप परभाव को । मनुष्य के रूप में लीला करने से भी मैं महेश्वर हूँ अर्थात् सर्वभूतों की अपनी आत्मारूप में मैं (परमात्मा) महान् ईश्वर हूँ एवं आकाश के समान सर्वव्यापी हूँ बल्कि आकाश की अपेक्षा भी सूक्ष्मतर भाव से व्यापक हूँ (आकाश से भी अन्तरतम हूँ) । यह जो मेरा पारमार्थिक-तत्त्व या स्वरूप है वह अजानतः—नहीं जानकर । [इसका कारण है अविवेकरूप (नित्यानित्य पदार्थ को पृथक् करने में असामर्थ्यरूप) मूल अज्ञान, वही अब कह रहे हैं]

मूढाः—अविवेकी व्यक्तिगण अर्थात् नित्य आत्मा को भूलकर अनित्य संसार को नित्य मानकर जिनकी बुद्धि विपर्यस्त (विभ्रान्त) हो गई है ऐसे विवेकहीन व्यक्तिगण मानुषीम् तनुम् आश्रितम् माम्—मनुष्यदेह का आश्रय कर व्यवहार (लीला) करते हुए मुझ परमात्मा को [देह के साथ तादात्म्याभिमान कर देहेन्द्रियादि के सकल कार्य को अपना कार्य मानकर सभी जीव मोह प्राप्त होकर कर्म करते हैं एवं कर्मफलरूप संसारचक्र में भ्रमण करते हैं । भगवान् को ऐसा अभिमान नहीं होता है क्योंकि उनके अपने स्वरूपज्ञान से वे कभी भी विच्युत नहीं होते हैं । भक्तगणों के ऊपर अनुग्रहप्रकाश करने के लिए वे समय समय में स्वेच्छा से मनुष्यमूर्त्ति का आश्रय कर लौकिक व्यवहार अथवा लीला करते हैं अर्थात् देह प्रभृति उनके लीला के उपकरणमात्र

है, वे सदा ही उससे विलक्षणरूप से (पृथकरूप से अर्थात् अपने शुद्ध-स्वरूप में) अवस्थान करते हैं, यही स्पष्ट करने के लिए 'तनुम् आश्रितम् माम्' ऐसा कहा गया है।] अवजानन्ति—[इस प्रकार मनुष्य शरीर से व्यवहार करनेवाले मुझको] अवज्ञा अर्थात् अनादर (तिरस्कार) करते हैं। मूढ़ व्यक्तिगण, मैं लीला शरीर में जो कार्य करता हूँ उसे साधारण मनुष्य के कार्य-रूप से ग्रहण कर मुझ को भी एक साधारण मनुष्य सोचकर 'यह मनुष्य है' इस प्रकार की भ्रान्ति में पड़ते हैं एवं मेरे परम भाव को (तत्त्व को) अर्थात् मुझे सब भूतों का महेश्वर न जानकर व मेरी अवज्ञा (अनादर तथा तिरस्कार) करते हैं। ऐसी अवज्ञा के फलस्वरूप उनकी बुद्धि मलिन हो जाती है, अतः तत्त्वज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ होकर संसारचक्र में शोचनीय अवस्था को प्राप्त होकर भ्रमण करते रहते हैं। सो यह उनकी मूढता के अनुरूप ही है। और जीवितावस्था में भी मुझ परमात्मा के निरादर की भावना से वे पामर जीव मानो मृत के समान ही पड़े रहते हैं।

टिप्पणी (१) श्रीधर—यदि कहो कि तुमको (परमेश्वर को) कोई आदर क्यों नहीं करते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं—मम भूतमहेश्वरम् परम् भावम् अजानन्तः मानुषीम् तनुम् आश्रितम् माम् मूढाः अवजानन्ति—सभी प्राणियों के महान् ईश्वररूप मेरे परम भाव को (अर्थात् मेरे परम तत्त्व या स्वरूप को) न जानने के कारण मूढ़ (मूर्ख) लोग मेरी अवमानना करते हैं। अवज्ञा का कारण यह है कि मैं शुद्ध सत्त्वमय देह का अवलम्बन कर अवतीर्ण होने पर भी भक्तों की इच्छा के वशीभूत होकर मनुष्याकार का ही आश्रय लेता हूँ [अतः वे मूर्खलोग मुझको सामान्य मनुष्य मान कर अवज्ञा करते हैं क्योंकि मेरे यथार्थ तत्त्व को वे नहीं जान सकते हैं]।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार सर्व प्रकाशक तथा सबके द्रष्टा एवं साक्षी मुझ आत्माको पशुतुल्य अत्यन्त पापी लोग अपमान करते हैं, इसे अब कहते हैं—श्रुति में कहा है—'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।' (एक ही देव सब भूतों में गूढ़, सर्वव्यापी, एवं सब भूतों के अन्तरात्मा, सब कर्मों का अध्यक्ष, सब भूतों का अधिवास (आश्रय), साक्षी, चेता (चैतन्यस्वरूप) केवल तथा निर्गुण (गुणातीत) है। इस श्रुति का अर्थ इस प्रकार है—ब्रह्मा, विष्णु आदि को भेदबुद्धि से यदि कोई माने कि जगत् के अनेक ईश्वर हैं तो उस अनेकत्व का निरास करने लिये श्रुति कहती है—'एकः' क्योंकि दूसरी श्रुति में भी यह वाक्य प्रसिद्ध है—'एक एव हि रुद्रो न द्वितोयाय तस्थुः'

(एक ही रुद्र है, दूसरा नहीं है। इससे यह सूचित होता है कि ब्रह्मादि का जो ऐश्वर्य शास्त्रों में वर्णित है वे प्राकृत (मायाकृत) अनित्य तथा प्रातिभासिक हैं। इसके पश्चात् कोई यदि समझे कि परमात्मा के एकत्व तथा कारणत्व अव्याकृत में ही समाप्त हो जाते है तो उस भ्रम का निरास (नाश करने के लिये श्रुति कहती है—'देवः' अर्थात् तीनों काल में अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा के बिना अखण्ड चैतन्य स्वरूप आत्मा के रूप से स्वयं ही प्रकाशित होता है। इस लिये परमात्माको 'देव' कहा जाता है। अव्याकृत (अर्थात सांख्य मतावलम्बियों के प्रधान) जड़ होने के कारण उसमें देवत्व का सम्भव नहीं है, अतः उसमें स्वतः कारणत्व नहीं हो सकता। एक तथा देव (स्वयंप्रकाश) होने के कारण सूर्य में भी ईश्वरत्व प्राप्त हो सकता है, इसका निरास करने के लिये 'सर्वभूतेषु गूढः' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया अर्थात् सर्व भूतों में जो चिदेकरस आत्मरूप से स्थित है उस परमात्मा को ही 'सर्वभूतेषु' इत्यादि से सूचित किया जा रहा है। अतः एक तथा देव होने पर भी चिदात्मरूप से सूर्य की सभी भूतों में स्थिति असम्भव होने के कारण सूर्य में ईश्वरत्व का अभाव है। किन्तु ब्रह्म यदि सर्वभूतों में सदा ही एक चित्-प्रकाश स्वरूप से स्थित है तो ब्रह्म को अवश्य ही सभी जान सकेंगे (अर्थात् ब्रह्म सबके वेद्य या ज्ञेय होगा), इस धारणा का निरास करने के लिये श्रुति कहती है कि वह 'गूढ़' है अर्थात् सब भूतों में प्रकाशरूप से सदा विद्यमान होने पर भी सूर्य जैसा मेघों से आवृत रहता है वैसा ही परमात्मा अविद्या तथा अविद्या के कार्य से आवृत होने के कारण सब को वेद्य (विदित) नहीं होता है। किन्तु यदि ब्रह्म सब भूतों में गूढ़ (आवृत या गुप्त) रहे तो ब्रह्म परिछिन्न होगा, ऐसी शंका का निरास करने के लिये श्रुति कहती है—'सर्वव्यापी' अर्थात् घट आदि में जिस प्रकार मिट्टी बाहर भीतर सर्वत्र व्याप्त होकर रहती है, उसी प्रकार ब्रह्म अपनी सत्ता से जगत् को बाहर भीतर सर्वत्र व्याप्त कर स्थित है, अतः बाहर भीतर ब्रह्म का पूर्णत्व रहने के कारण उसमें परिछिन्नत्व नहीं हो सकता। शंका होगी कि गूढ़ रूप से सब में आकाश का भी व्यापकत्व है? इसी शंका का निरास करने के लिये श्रुति कहती है—'सर्वभूतान्तरात्मा' अर्थात् सब भूतों के भीतर बुद्धि गुहा में आत्मरूप से परमात्मा स्थित है। जड़ आकाश सर्व व्यापक होने पर भी सब भूतों का आत्मा नहीं हो सकता, अतः वह ब्रह्म भी नहीं हो सकता। अब शंका होगी कि यदि ब्रह्म सब भूतों का आत्मा हो तो (जीव के समान) कर्म का कर्तृत्व कर्म फल का भोक्तृत्व तथा संसारित्व ब्रह्म में प्राप्त होगा। इस शंका

का निरास करने के लिये श्रुति कहती है—'कर्माध्यक्ष' अर्थात् उपाधि को स्वीकार करके उसके (कर्मों के) धर्मों को देखता है, इसलिये आत्मा भूतों का, उनके कर्मों का एवं उनके फल के भोगो का साक्षी ही होता है क्योंकि आत्मा निरवयव तथा निष्क्रिय है, अतः वह स्वयं कोई भी कर्म नहीं करता और न उनके फल का भोग करता है। फिर शंका हो सकती है कि सब भूतों का अन्तरात्मा यदि ब्रह्म हो तो उसको सब भूतों का आश्रय लेना पड़ेगा एवं उनके अधीन भी हो जायगा। इस शंका का निरास करती हुई श्रुति कहती है—'सर्वभूताधिवास'। सब भूत जिसमें वास करते है वह 'वास' है। ब्रह्म अधिकतम (सर्व श्रेष्ठ) है और वास भी है, इस लिये ब्रह्म अधिवास है। अथवा सब भूत इसमें वास करते हैं, इस लिये ब्रह्म को अधिवास कहा जाता है। शुक्ति-रजत भ्रम में जिस प्रकार कल्पित रजत का अधिष्ठान शुक्ति ही है अथवा दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर का अधिष्ठान जिस प्रकार दर्पण है उसी प्रकार कल्पित भूतों का परमात्मा अधिवास (अधिष्ठान) ही है—स्वयं उन भूतों का अधिकरण नहीं है [क्योंकि कल्पित वस्तु की कोई वास्तविक सत्ता न रहने के कारण उनका कोई अधिकरण नहीं है।] यह आत्मा केवल कर्माध्यक्ष (कर्मोंका ज्ञाता) ही नहीं है किन्तु भूतों का, उनके धर्मों का, उनके कर्मों का एवं उनके फलों के अनुभवों का तथा उनकी अवस्थाओं का भी द्रष्टा है, इसलिये श्रुति कहती है—वह (नित्य) 'साक्षी' है अर्थात् बुद्धि तथा बुद्धि के समस्त विकारों का साक्षी है। शंका होगी कि जो प्रत्यक्ष देखता है वह साक्षी है। यदि ऐसा ही हो तो आत्मा ईक्षणक्रिया का कर्ता है (अर्थात् आत्मा निष्क्रिय नहीं हैं)। ऐसा प्राप्त होने पर श्रुति उसका निरास करने के लिये कहती है—'चेता'। चेतयितृत्व का अर्थ है अविक्रियत्व अर्थात् आत्मा स्वयं अविक्रिय स्वरूप से सब देखता है अविक्रिय होने में हेतु क्या है ? श्रुति कहती है—'केवल' अर्थात् निरवयव। निरवयव होने के कारण अविक्रिय है एवं स्वयं अविकारी रह कर ही सब को देखता है यही कहने का अभिप्राय है। शंका होगी कि आकाश निरवयव है तथापि आकाश में भी शब्द का गुण माना जाता है अर्थात् आकाश शब्द-गुणवाला है। वैसे निरवयव ब्रह्म में भी सत्त्व, चित्त्व आदि गुण प्राप्त होते हैं। इस शंका का निरास करने के लिये श्रुति कहती है—'निर्गुण' अर्थात् 'आत्मनः आकाशः संभूतः' (आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) श्रुतिवाक्य से आकाश का जनन सुनने में आता है किन्तु जिसका जन्म होता है वह सावयव अवश्य होगा। अतः आकाश का सावयत्व रहने के कारण गुणवत्त्व मानना

युक्त ही है किन्तु श्रुति में ब्रह्म को निष्कल अर्थात् निरवयव कहा है अतः निरवयव ब्रह्म में गुणवत्त्व सम्भव नहीं है इसलिये सत्त्व, चित्त्व आदि ब्रह्म का स्वरूप ही हैं—गुण नहीं हैं। परब्रह्म में सर्वविशेषों का अभाव है, ऐसा प्रतिपादन करने के लिये 'च' शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार श्रुतिनिरूपित लक्षण वाले भूतमहेश्वर (अपनी केवल सन्निधि से ही प्रकृति और प्राकृत सब में जो चेष्टा उत्पन्न करता है वह ईश्वर है।) यथा अयस्कान्तमणि स्वयं अविक्रिय रहने पर भी अपनी सन्निधि से वह लोहे को चलाता है, वैसे ही ब्रह्म स्वरूप आत्मा सबकी प्रवृत्ति का हेतु होता है। श्रुति में इस ब्रह्म को 'महतो महीयान्' (महान से भी महान्) कहा है अतः यह महान् है और ईश्वर भी है, इसलिये इसको महेश्वर कहा गया है अर्थात् वह अव्यक्त से लेकर स्थूल पर्यन्त सब भूतों का महेश्वर है। अतः 'भूतमहेश्वर' शब्द का तात्पर्य यह है कि वह सब की चेष्टा का कारण तथा सब से महत्तम है। **मम परं भावम्**—इस प्रकार परम (नित्यत्व, कूटस्थत्व, असंगत्व, सत्त्व, चित्त्व, अनन्तत्त्व, सर्वव्याप्तित्व, सर्वज्ञत्व और सर्व प्रकाशकत्व आदि धर्म्म विशिष्ट होने के कारण समस्त दृश्य प्रपञ्च से विलक्षण) मुझ परब्रह्म के आकाश सदृश सच्चिदानन्दैकरस भाव को (स्वरूप को अर्थात् अहं शब्द के अर्थ को) **अजानन्तः**—शास्त्र और आचार्य से कुछ भी न जानने वाले **मूढाः**—पशुसदृश लोग समूह **मानुषीं तनुम् आश्रितम्**—[यहाँ 'मानुषी तनु' शब्द से सब प्राणियों के शरीर मात्र को ही उपलक्षण किया गया है।] तनु में (शरीर में) आश्रित अर्थात् अपने देह में, बुद्धिरूप गुहा में सर्वप्रकाशक एवं सर्वसाक्षी रूप से विद्यमान **माम् अवजानन्ति**—मुझको अर्थात् प्रत्यक् आत्माकी अवज्ञा (तिरस्कार) करते हैं। 'अहम्' पद का अर्थभूत आनन्दैकरस (सब के) आत्मभूत मुझ में मल मांस-हड्डी के पिण्डस्वरूप देह का आरोप कर के 'मैं कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ' इत्यादि के तथा जरा, रोग आदि का अध्यास करके तिरस्कार करते हैं अर्थात् मैं कर्ता, मैं भोक्ता, मैं बालक, मैं मूढ़, मैं पापिष्ठ, मैं बधिर (बहिरा), मैं खञ्ज (पंगु), मैं जीर्ण, मैं आहत हूँ, मैं मृत हूँ इत्यादि प्रकार से सर्वदा मेरे (आत्मा के) विपरीत भाव का ही सम्पादन करते हैं अर्थात् मैं (अखण्ड, असंग, अविकारी परमात्मा) देहादि विशिष्ट हूँ, ऐसा समझ कर देहादि के धर्मों को मुझमें आरोप कर के मेरे यथार्थ स्वरूप का तिरस्कार करते हैं।

(३) नारायणी टीका—भगवान् समय समय पर भक्त के ऊपर कृपा करने के लिए लीला करने योग्य मनुष्य शरीर ग्रहण करते हैं ताकि परवर्ती

भक्तगण भगवान् का भक्तवात्सल्य, दुष्टदमन, साधुपालन, धर्मस्थापन इत्यादि लीला कहानी अनुसरण कर उत्तरोत्तर श्रद्धा तथा विश्वास से सम्पन्न होकर भगवान में सम्पूर्णरूप से आत्मसमर्पण करने की सामर्थ्य प्राप्त कर सकें एवं उनके अद्भुत लीलामूर्ति का अनुध्यान कर समस्त चित्तवृत्तियों को शान्त कर आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर सकें। मूढ़ (अविवेकी) व्यक्तिगण इस लीला-तत्त्व का अवधारण नहीं कर सकते हैं, अतः 'यह ईश्वर का अवतार देह नहीं है—यह साधारण मनुष्य है' इसप्रकार मन्दबुद्धि के वशीभूत होकर उस देह में स्थित मुझ सच्चिदानन्द ब्रह्म की अवज्ञा (तिरस्कार) करते हैं। इसके फलस्वरूप उनकी भगवान् के प्रति श्रद्धा तथा विश्वास में वृद्धि होने का अथवा चित्तवृत्ति के निरोध करने का कोई अवलम्बन नहीं रहने के कारण उनके लिये चित्तशुद्धि प्राप्त करने का कोई उपाय नहीं रहता है। अतः तत्त्वज्ञान के द्वारा मोक्षलाभ से भी वंचित होते हैं अर्थात् वह लीलामय पुरुष हो जो महेश्वर (सर्वभूतों का एकमात्र स्वामी) हैं तथा आकाश के समान सर्वव्यापी एवं सर्वभूतों का अन्तरात्मा है, इस परमभाव (परमतत्त्व) को नहीं जानते हैं। अतः अज्ञान के द्वारा आच्छादित रहने के कारण संसार के जन्म-मृत्यु के प्रवाह से वे कभी भी मुक्त नहीं हो सकते हैं। यही मनुष्य जीवन को सबसे शोचनीय अवस्था है।

अथवा प्रति मनुष्य देह को आश्रय करके मेरा एक परमभाव है। आत्मतत्त्व ही वह परमभाव। आत्मा साधारण मनुष्य देह को आश्रय कर अभिव्यक्त होने पर भी वह सभी भूतों का महान् ईश्वर (महेश्वर) है क्योंकि जैसे स्वप्न दृश्य की सृष्टि-स्थिति प्रलय स्वप्नद्रष्टा के संकल्प मात्र से ही संघटित होते हैं उसी प्रकार आत्मा की स्वभावगत संकल्पशक्ति से विश्व-प्रपञ्च की सृष्टि स्थिति प्रलय हो रहे हैं, अतः यह आत्मा सब भूतों का महेश्वर है। प्रत्येक जीव का आत्मा (अहं पदका लक्ष्यार्थ) सत्-चित् आनन्दस्वरूप है। अतः सर्व भूतों का आत्मा एक (अद्वितीय) सर्वव्यापी तथा अनन्त है। यही परमभाव (परमतत्त्व) है, जिसका साक्षात्कार होने पर सर्व प्रपञ्च का उपशम होकर मोक्ष प्राप्त होता है। किन्तु मूढ़ व्यक्ति (देहेन्द्रियादि में आत्मा का अध्यास कर बहिश्चित्त होकर अविवेक के कारण) इस अन्तरात्मा को नहीं जान सकते हैं। आत्मा (परमात्मा) है नहीं, जागतिक भोग ही एकमात्र जीवन की काम्य वस्तु है, ऐसा मानकर मेरी (आत्मा के यथार्थ स्वरूपकी) अवज्ञा (तिरस्कार) करते हैं एवं मुझको प्राप्त न कर जन्मान्तर में अधः से अधोगतिको प्राप्त होते है। (गीता १६।२०)

यद्यपि सब देह को आश्रय कर एक ही सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा स्थित है, तथापि एकमात्र मनुष्य देह से ही परमतत्त्व का (आत्मा के यथार्थ स्वरूप का) साक्षात्कार करना सम्भव है (अन्य देह से नहीं), इस लिये भगवान ने कहा—'मां मानुषीं तनुमाश्रितम्'। इस प्रकार महादुर्लभ मनुष्य देह को प्राप्त कर भी जिसने पशुपक्षी की भाँति सर्व भूतों के महेश्वर (नियन्ता) एक अखण्ड, अद्वितीय स्वरूप शुद्ध चैतन्य स्वरूप परम भावको (आत्म स्वरूप को) न जानकर वृथा ही जीवन व्यतीत किया अतः अपने दुर्लभ मनुष्य देह का अनादर किया, उससे और मूढ़ कौन हो सकता है ? यही भगवान के कहने का अभिप्राय है।

[भगवत्स्वरूप नहीं जानने के कारण किस प्रकार की शोचनीय दशा प्राप्त होती है, वही अब विशद रूप से कहा जा रहा है—]

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

अन्वय—(ये माम् अवजानन्ति ते) राक्षसीम् आसुरीं च मोहिनीं प्रकृतिम् एव श्रिताः (आश्रिताः सन्तः) मोघाशाः, मोघकर्माणः मोघज्ञानाः, विचेतसः च भवन्ति।

अनुवाद—(जो लोग मेरी अवज्ञा करते हैं) वे (देह में आत्मबुद्धि-रूप मोहको वृद्धि करने वाली राक्षसी तथा आसुरी प्रकृति (स्वभाव) का ही आश्रय करते हैं। इसके लिए उनकी सभी आशायें व्यर्थ हो जाती हैं, उनके सभी कर्म विफल होते हैं (अर्थात् उनका पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हो सकता है) उनका ज्ञान भी निष्फल होता है और उनका चित्त भी विक्षिप्त रहता है अर्थात् वे विवेकहीन भी होते हैं।

भाष्यदीपिका—(ये माम् अवजानन्ति ते)—जो मेरी अवज्ञा करते हैं वे राक्षसीम् आसुरीं च मोहिनीं प्रकृतिम् एव श्रिताः (सन्तः)—राक्षसों की प्रकृति (स्वभाव) एवं असुर गणों की प्रकृति (स्वभाव) का ही आश्रय करने वाले हो जाते हैं। वह प्रकृति कैसी है ? वह अब कहा जा सकता है—मोहिनीं अर्थात् मोह उत्पन्न करने वाली होती है। 'मोहिनी' शब्द राक्षसी तथा आसुरी इन दोनों प्रकृतियों का ही विशेषण है, मोह शब्द का अर्थ है मिथ्याज्ञान अर्थात् देह में आत्मबुद्धि करना ही मोह है। अतः देहात्मबुद्धि-रूप मोह के वशवर्ती होकर वे तोड़ो, फोड़ो, पियो, खाओ, दूसरों का धन लूट लो इत्यादि वचन बोलने वाले तथा अत्यन्त निष्ठुर कर्म करने वाले हो

जाते हैं। [सर्व प्रकार से प्राणीहिंसा में तथा क्रूर कर्म में रत हुए स्वभाव को राक्षसी, प्रकृति कही जाती है। और दूसरों का धन अपहरण करना, किसी को भी कुछ नहीं देना यज्ञादि कर्म नहीं करना तथा अपनी सुविधा के लिए दूसरों को अनेक प्रकार से दुःख प्रदान करना ये सब आसुरी प्रकृति के अन्तर्गत हैं (आनन्दगिरि)। [वे भगवान की (अपने स्वरूपभूत परमात्मा की) अवज्ञा के कारण राक्षसी (तामसी) अर्थात् अशास्त्रीय हिंसावृत्ति के हेतुभूत द्वेष जिसमें प्रधान है एवं आसुरी (राजसी) अर्थात् शास्त्र से अननुमोदित शास्त्र द्वारा निषिद्ध विषयभोग करने की वृत्ति का हेतुभूत राग जिसमें प्रधान रहता है उस मोहिनी (अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान से भ्रष्ट करने वाली) प्रकृति को (स्वभाव को) आश्रित किये ही रहते हैं। (मधुसूदन)] इस प्रकार राक्षसी तथा आसुरी प्रकृति का आश्रय लेने के कारण अर्थात् राक्षस तथा असुर जनोचित निष्ठुर कर्मों में प्रवृत्त होने के कारण मोघाशाः—उनको आशा (फल की इच्छा) व्यर्थ हो जाती है [क्यों वे सोचते हैं कि ईश्वर के बिना केवल कर्म ही हमें फल देंगे (मधुसूदन)]। भगवान की जो लोग अवज्ञा (तिरस्कार) करते हैं उनकी आशा कभी भी फलवती नहीं हो सकती है, यही कहने का अभिप्राय है। अब प्रश्न होगा कि भगवान के निन्दाकारी लोग यदि नित्य नैमित्तिक कर्म नियमपूर्वक अनुष्ठान करें तो उस अनुष्ठान के फल से उनकी स्वार्थसिद्धि या वासना की पूर्ति हो सकती है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं, नहीं ऐसा होना सम्भव नहीं है, क्योंकि—]

मोघकर्माणः—वे लोग मोघकर्मा होते हैं। मोघ शब्द का अर्थ "वृथा" है, अपने आत्मभूत (अहं शब्द का लक्ष्यार्थ) भगवान का अनादर तथा तिरस्कार करने के कारण उनके द्वारा अनुष्ठित अग्निहोत्रादि कर्मसमूह भी निष्फल अर्थात् व्यर्थ (श्रममात्र) ही होते हैं क्योंकि समस्त यज्ञादि कर्मों का भोक्ता तो आत्मस्वरूप भगवान ही है (गीता ५।२९)। अतः मुझ भगवान का निरादर करने से उनके कर्म की क्या सार्थकता रह सकती है ? अब प्रश्न होगा—'अच्छा ! वे यदि शास्त्रज्ञान सम्पन्न हों तब तो उस ज्ञान के स्वरूप से उनकी आशा (कामना) पूर्ण हो सकती है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं— नहीं। जिस प्रकार वे मोघकर्मा होते हैं उसी प्रकार वे मोघज्ञानाः—मोघ (वृथा) ज्ञान से युक्त होते हैं अर्थात् उनका शास्त्रीय ज्ञान भी निष्फल ही होता है (मुझ परमेश्वर की अवज्ञा करने पर केवल शास्त्रीय ज्ञान उनकी आशा (अभिलाषा) पूर्ण नहीं कर सकता है)। [अथवा भगवान से विमुख होने के कारण कुतर्कयुक्त शास्त्रों से उत्पन्न हुआ उनका ज्ञान ईश्वर के तत्त्व का

प्रतिपादन नहीं कर सकता, अतः वह निष्फल ज्ञान है (मधुसूदन)]। प्रश्न है—'तब भी युक्तिपूर्ण विवेक के द्वारा उनको परमार्थ सिद्धि हो सकती है ?' इसके उत्तर में कह रहे हैं--नहीं, उनके लिए निश्चित विवेक—ज्ञान लाभ करना सम्भव नहीं है क्योंकि वे विचेतसः—विवेकहीन ही होते हैं। सर्वात्मा परमेश्वर का आश्रय करने के बिना चित्त की मलिनता नष्ट करने का और कोई सुगम उपाय नहीं है। चित्त अशुद्ध रहने से विवेकज्ञान नहीं उत्पन्न होता है। फिर राक्षसी तथा आसुरी प्रकृति के आश्रित व्यक्तिगण सदा ही विक्षिप्तचित्त होने के कारण स्वभावतः ही विवेकहीन होते हैं।

केवल वे लोग इस जन्म में ही ऐसे विशेषणों से युक्त होते हैं (अर्थात् केवल वे लोग मोघाशा, मोघकर्मा, मोघज्ञान एवं विवेकज्ञानरहित होते हैं), ऐसी बात नहीं—देहपात के बाद भी उनके स्वभाव तथा कर्म के अनुसार अतिक्रूर राक्षसी तथा आसुरी योनि को वे प्राप्त होते हैं। श्रुति भी कहती है कि 'असूर्या नाम ते लोकाः' इत्यादि (ईश-उपनिषत् ३) अर्थात् असुरों के रहने योग्य लोक प्रकाशहीन है अर्थात् वे लोग अज्ञानान्धकारावृत ज्ञानहीन लोक (राक्षसी तथा आसुरी योनि) मृत्यु के बाद प्राप्त होते हैं। [गीता में भी कहा गया है—'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभः।' (गीता १६।२१) अर्थात् काम, क्रोध और लोभ यह आत्माको नष्ट करनेवाला तीन प्रकार का नरक का द्वार है। इस प्रकार कहे हुए नरक के द्वार के भागी होने से वे निरन्तर नरक की यातनाओं को ही अनुभव करते रहते हैं—यह कहने का अभिप्राय है (मधुसूदन)।]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—तथा मोघाशाः मोघकर्माणः मोघज्ञानाः विचेतसः—'मुझसे भिन्न अन्य देवता शीघ्र फल देंगे' इसप्रकार जो लोग आशा करते हैं वे 'मोघाशा' हैं एवं मुझसे विमुख होने के कारण उनके कर्म भी व्यर्थ है, अतः वे 'मोघकर्मा' हैं। फिर उनका शास्त्रज्ञान भी नाना कुतर्कों के आश्रित रहने के कारण उनका वह ज्ञान भी व्यर्थ ही है (कारण उसप्रकार ज्ञान से परमार्थसिद्धि असम्भव है)। अतः उनका चित्त विक्षिप्त ही रहता है। इन सबका कारण यह है कि राक्षसीम् इत्यादि—हिंसा आदि प्रचुर मात्रा में हों ऐसी राजसी तथा काम, दर्प आदि जिसमें अधिक हों ऐसी राजसी प्रकृति (स्वभाव) जो कि बुद्धि को भ्रष्ट कर देती है, उसके आश्रित (वशीभूत) होकर वे मेरी अवज्ञा करते हैं—इसप्रकार पूर्व श्लोक के साथ इसका अन्वय करना पड़ेगा।

(२) शंकरानन्द—श्रुति में कहा गया है--'असूर्या नाम ते लोकाः'

[अप्रकाशात्मक (अन्धकारपूर्ण) लोक समूह आत्मा से विमुख लोग प्राप्त होते हैं]। इस श्रुतिवाक्य का अर्थ प्रकाश करने के लिये आत्मज्ञान से जो लोग विमुख हैं तथा आत्मा के विपरीतभाव का ही सम्पादन करते हैं (अर्थात् देहादि के धर्मों को अपना स्वरूप मानते हैं) उन मूढ़ पुरुषों के स्वभाव का वर्णन करके उनकी आत्मज्ञानविमुखता का जो फल श्रुति में कहा गया है, उस फल का अब प्रतिपादन करते हैं--

मोघाशाः—जो मूढ़ मेरे तत्त्व को न जानकर मुझ आत्मा का तिरस्कार करते हैं वे मोघाशा अर्थात् उनकी आशा (मनोरथ) मोघ (निष्फल) है। 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' (चातुर्मास्य यज्ञ करनेवालों का पुण्य अक्षय्य होता है), इसप्रकार प्ररोचन वचन से प्रेरित होकर स्वर्ग में शतकोटि कल्पपर्यन्त हम वास करेंगे, इस आशा से जो कामी पुरुष चातुर्मास्य यज्ञ करते हैं' उनकी आशा निष्फल होना युक्त है क्योंकि 'श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्' [हे अन्तक (यमराज), ये सब पदार्थ कलतक भी रहेंगे या नहीं इस में निश्चयता नहीं है], यह कहकर श्रुति यही सूचित कर रही है कि कर्मजनित सब फल अल्पकालपर्यन्त ही स्थायी रहते हैं। फिर वे मोघकर्मा--मोघ (निष्फल) है श्रौत स्मार्त कर्म जिनके उन्हें मोघकर्मा कहा जाता है। बहुत परिश्रम से सम्पादित श्रौत आदि पुण्य कर्मों का फल क्षणस्थायी होता है तथा उन सब कर्मों से जिह्वा एवं उपस्थ द्वारा प्राप्त होनेवाला सुख ही एकमात्र उद्देश्य (प्रयोजन) होता है, अतः वे सब मोघ (निष्फल) कर्म हैं, यह कहना युक्त ही है। किञ्च मोघज्ञानाः—उनके सकल वेदशास्त्रादि अध्ययन से उत्पन्न हुआ ज्ञान भी मिथ्याविषय को अवलम्बन कर रहता है एवं अनर्थ का साधक है, इसलिए उनके ज्ञान मोघ (निष्फल) है। ब्रह्मचारिवासोऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि' इस स्मृतिवाक्य के अनुसार बहुत कालपर्यन्त वेद और शास्त्रों का अध्ययन तथा विचार से उत्पन्न हुआ समस्त ज्ञान यदि संसारबन्धन का ही हेतु होता है (किन्तु मोक्ष का नहीं) तो वह ज्ञान मोघ (निष्फल) ज्ञान होना युक्त है। जिस कारण से वे मोघज्ञान हैं उसी कारण से वे विचेतसः—विपरीत बुद्धिवाले अर्थात् सर्वदा केवल देह में ही आत्मदर्शी होकर (अर्थात् 'मैं देह हूँ' इस प्रकार केवल देह में ही आत्माभिमान कर) राक्षसीम्— 'अग्निहोत्र और वेदाध्ययन राक्षसों के घर घर में हो सकते हैं किन्तु दया, सत्य और शौच राक्षसों में नहीं रहते' इसप्रकार के लक्षणवाले राक्षस अर्थात् दया, सत्य, शौच, क्षमा, लज्जा, दान इत्यादि सत् धर्मों से शून्य तथा

निष्ठुरता, हिंसा, दम्भ, दर्प आदि दुर्गुणों से पूर्ण राजसी प्रकृति में उत्पन्न तथा आसुरीम्—'इदमद्य मया लब्धम्' [आज यह मैंने प्राप्त किया, कल मनोरथ प्राप्त करूंगा इत्यादि गीता के १६।१२ श्लोक में कहे गये लक्षणवाले लोगों को असुर कहा जाता है और उन के स्वभाव से पूर्ण होने पर उसे आसुरी कहलाता है। वे मोहिनीम् प्रकृतिम् श्रिताः—इसप्रकार राक्षसी तथा आसुरी स्वभाव वाले पुरुष मोहिनी अर्थात् क्रमशः उत्तरोत्तर अत्यन्त मूढ़ता का संपादन करनेवाली प्रकृति (योनि) को प्राप्त होते हैं—पुनः पुनः प्राप्त करते हैं, यही कहने का अभिप्राय है। अथवा जो आत्मा को मुक्त करने के लिये प्रयत्न न कर राक्षसी, आसुरी अथवा मोहिनी ही प्रकृति (स्वभाव) का आश्रय लेते हैं, वे जन्म-जन्म में मोघाशा, मोघकर्मा, मोघज्ञान एवं विचित्र (विपरीत बुद्धिसम्पन्न) ही होते हैं। [मोघाशा इत्यादि शब्दों का अर्थ तो पहले ही कहा जा चुका है]।

(३) नारायणी टीका—जो लोग सर्वभूतों के आत्मा भगवान् का अनादर करते हैं अर्थात् उनके अस्तित्व का भी स्वीकार नहीं करते हैं वे अवश्य ही आसुरी, राक्षसी तथा मोहिनी प्रकृति का आश्रय लेते हैं। न+सुर (देवता) = असुर अथवा असु(प्राण) + र = असुर अर्थात् अपने प्राण की तृप्ति करने के लिये जो सदाही तत्पर (लिप्त) है, वह असुर है। अतः जो प्रकृति दैवीसम्पत् की विरोधिनी है अर्थात् देहेन्द्रियादि में ही आत्मबुद्धि दृढ़ रहने के कारण जिस प्रकृति में दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य तथा अज्ञान की प्रबलता (गीता १६।४) रहती है उस प्रकृति को आसुरी प्रकृति कहा जाता है। वह स्वतः ही राक्षसी मूर्ति भी धारण कर लेती है क्योंकि राक्षस = (रक्षा + अस्) अर्थात् जो अपनी देह तथा इन्द्रियादि की रक्षा के लिये दूसरों का हिंसा अथवा बलिदान करने में सदा ही प्रस्तुत रहता है, वह राक्षस है। इस प्रकार राक्षस की प्रकृति को राक्षसी कहा जाता है। देहादि में आत्मबुद्धि ही मोह है, अतः राक्षसी तथा आसुरी प्रकृति अवश्य ही 'मोहिनी' होगी क्योंकि इस प्रकार प्रकृति (स्वभाव) जिसकी है उसको कभी परमात्मा के परमभाव का (अर्थात् आत्मतत्त्व का) अनुसन्धान करने की रुचि या सामर्थ्य नहीं रहेगो। अतः यह परम पुरुषार्थ से भ्रष्ट कर देती है इसलिए प्रकृति को मोहिनी कहते हैं। जो इस प्रकार राक्षसी आसुरी तथा मोहिनी प्रकृति का आश्रित होता है उसका विषय भोगों के द्वारा देहेन्द्रियादि की तृप्ति साधन ही जीवन का चरम उद्देश्य होता है—जगत् का मिथ्यात्व तथा आत्मा का सत्यत्व एवं नित्यत्व वह मूढ़ व्यक्ति स्वप्न में भी नहीं सोच सकता है अतः

वह 'विचेतसः' (विवेकहीन) अर्थात् अनात्मा देहादि से चैतन्यस्वरूप आत्मा को पृथक् करने में असमर्थ होता है। इस लिए उसका शास्त्रीय तथा लौकिक ज्ञान विषयवासना की पूर्ति के लिए ही प्रयुक्त होता है—तत्त्वज्ञान प्राप्त कर संसार से मुक्तिलाभ करने के लिए नहीं। इहलोक तथा परलोक में जितने भोग हैं वे सभी अनित्य एवं अन्त में दुःखदायक है (गीता ९।३३)। किन्तु सभी प्राणी चाहते हैं कि नित्य सुख या परमानन्द। जिस ज्ञान से इस शाश्वत पिपासा (प्यास) की निवृत्ति सम्भव है वही यथार्थ ज्ञान है—इसके अतिरिक्त जिस ज्ञान से दुःखमय संसार प्रवाह में भटकना पड़ता है वह तो मोघ (व्यर्थ अर्थात् निष्फल) है क्यों कि वह ज्ञान मनुष्य-जीवन के चरम पुरुषार्थ (मोक्ष) का सम्पूर्ण विरोधी हैं। इस लिए राक्षसी, आसुरी तथा मोहिनी प्रकृति का आश्रित व्यक्ति 'मोघज्ञान' होता है। फिर सभी कर्म (शास्त्रीय तथा लौकिक कर्म) ज्ञान से ही जाने जाते हैं एवं ज्ञान से ही सम्पन्न होते हैं। जो 'मोघज्ञान' है उसका कर्मों में अवश्य ही कर्तृत्वाभिमान तथा फलाकांक्षा रहने के कारण वे कर्म दुःखमय संसारगति की प्राप्ति के हेतु होंगे। अतः परम पुरुषार्थ के (नित्य आनन्द या नित्य शान्ति प्राप्ति के) विरोधी होने के कारण ईश्वर से विमुख अज्ञानी पुरुष का सभी कर्म मोघ (निष्फल अर्थात् परिश्रममात्र ही) होगा क्योंकि आनन्द के सिवा दुःख ही उन कर्मों का अन्तिम परिणाम है। इस लिये वह 'मोघकर्मा' है और 'मोघकर्मा' होने के कारण वह 'मोघाशा' भी है क्योंकि उसकी नित्यानन्द की प्राप्ति की आशा कभी उस प्रकार व्यर्थ कर्मों से पूर्ण नहीं हो सकती। अतः सभी के अन्तरात्मा तथा पूर्णानन्दस्वरूप भगवान का तिरस्कार जो लोग करते हैं अर्थात् उनका अस्तित्व सर्वत्र स्वीकार कर उनके साक्षात्कार के लिये प्रयत्न नहीं करते हैं उनके जीवन तथा ज्ञान, कर्म आशा सब ही निष्फल हो जाते हैं एवं वे असूर्य (अज्ञानान्धकाराच्छन्न) लोकों में पुनः पुनः परिभ्रमण करते रहते हैं—यही कहने का तात्पर्य है।

[पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि जो भगवान से विमुख है वे सब प्रकार के पुरुषार्थ से वञ्चित हैं एवं सबके लिये शोचनीय ही है। प्रश्न होगा—तब समस्त पुरुषार्थों का पात्र कौन हैं ? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि जो श्रद्धायुक्त हैं और भगवद्भक्तिरूप मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त हुए हैं वे—]

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

अन्वय—हे पार्थ दैवीं प्रकृतिम् आश्रिताः महात्मानः तु मां भूतादिम् अव्ययं ज्ञात्वा अनन्यमनसः (सन्तः) भजन्ते।

अनुवाद—हे पार्थ ! परन्तु जो समस्त महात्मा दैवी प्रकृति का आश्रय करते हैं अर्थात् जो महात्मा दैवी प्रकृति सम्पन्न हैं, वे मुझको भूतों का आदि (कारण) तथा व्ययरहित (अविनाशी) जानकर अनन्यचित्त होकर (अर्थात् मुझ से भिन्न अन्य किसी में मन को संलग्न होने न देकर) मेरा ही भजन (सेवा) करते हैं।

भाष्यदीपिका :—हे पार्थ :—तुम मेरे भक्त पृथा के तनय हो, अतः तुम जो दैवी प्रकृतिसम्पन्न होकर मेरा अनन्य भाव से भजन करोगे इसमें और आश्चर्य की बात क्या है ?

दैवीम् प्रकृतिम् आश्रिताः—दैवी अर्थात् देवताओं की प्रकृति अर्थात् शम-दम दया श्रद्धादि सात्त्विकी प्रकृति का (जिसके विषय में गीता में आगे षोडशाध्याय के १–३ श्लोकों में कहा जायगा, उस प्रकृति का) जो आश्रय करते हैं ऐसे महात्मानः तु—श्रद्धासम्पन्न एवं भगवद्भक्ति के द्वारा मोक्षमार्ग में प्रवृत्त अक्षुद्रचित्त व्यक्तिगण किन्तु जिनकी आत्मा (अन्तःकरण) महान् (प्रकृष्ट) है अर्थात् अनेकों जन्मों में किये हुए यज्ञादि पुण्यानुष्ठान के द्वारा संस्कृत (शोधित) हुआ है, अतः जीवका चित्त क्षुद्र विषय की कामना के द्वारा अभिभूत (वशीभूत) नहीं होता है, वे महात्मा हैं। 'तु' शब्द पूर्ववर्ती श्लोक में कथित राक्षसी तथा आसुरी प्रकृतिसम्पन्न व्यक्तियों से इस महात्माओं की विलक्षणता पृथक् कर दिखाने के लिए व्यवहृत हुआ है। [अथवा 'तु' शब्द अवधारणार्थ में (निश्चितार्थ में) व्यवहृत हुआ है अर्थात् 'तु' शब्द से यह सूचित हो रहा है कि महात्मा लोग अवश्य ही मुझको भजते हैं (आनन्दगिरि)] महात्मा लोग मां—मुझको अर्थात् सर्वात्मा परमेश्वरको भूतादिम्—आकाशादि पञ्चभूतों का और समस्त प्राणियों का भी (अर्थात् सर्व जगत् का) आदि अर्थात् कारण [चूँकि मैं सर्वभूतों का कारण हूँ, अतएव सर्वभूत मुझसे अर्थात् सर्वात्मा वासुदेव से पृथक् नहीं है। अतः 'भूतादिम्' शब्द का तात्पर्य यह है कि कार्य को कारण से पृथक् सत्ता न रहने के कारण 'वासुदेवः सर्वमिति' अर्थात् यह सब वासुदेव ही है इस प्रकार मुझ वासुदेव को अव्ययम्–अविनाशी अर्थात् वह अखंडैकरस सर्वात्मा वासुदेव (क) ज्ञान से अथवा अज्ञान से,(ख)कारणनाश से अथवा कार्य नाश से, (ग)स्वतः अथवा अन्यकर्तृक

किसी प्रकार से एवं किसी अवस्था में व्यय (क्षय अथवा ह्रास) को प्राप्त नहीं होता है ऐसा ज्ञात्वा–शास्त्र तथा युक्ति इत्यादि के द्वारा जानकर अनन्यमनसः (सन्तः)– अनन्य चित्त होकर सर्वभूतों का प्रत्यक् चैतन्य स्वरूप आत्मा मुझ वासुदेव के सिवा अन्य किसी विषय में जिनका मन नहीं जाता है उनका 'अनन्यमनसः' कहा जाता है। ऐसा होकर भजन्ति मेरा ही भजन (सेवा) करते हैं। [अनन्यचित्त होकर भगवान का भजन अथवा सेवा करना पड़ता है। भजन अथवा सेवा का अध्याय की समाप्ति तक विस्तार किया गया है एवं अन्तिम पद्धति (प्रकार) कैसा है, उसका इस श्लोक में (९।३४) उसका उपसंहार भी किया गया है। उस प्रकार से भजन (सेवा) करने से ही भगवत् प्राप्ति तथा परम पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। परन्तु जो लोग अनेक जन्मों तक पुण्यकर्मादि के अनुष्ठान के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त नहीं किये हैं एवं क्षुद्र विषय सुख में लिप्त होकर 'महात्मा' नहीं हुए हैं, वे भगवान को सब भूतों का आदि कारण तथा अविनाशी जानकर 'अनन्यचित्त' होकर भगवान की निरन्तर सेवा करने में समर्थ नहीं होते हैं। (गीता फिर १६ १–१३) श्लोकों में वर्णित दैवी सम्पत् सम्पन्न नहीं होने से कोई 'महात्मा' भी नहीं हो सकता है। इस लिए ही 'महात्मा' शब्द के विशेषण के रूप से 'दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः' पद का प्रयोग किया गया है।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—प्रश्न होगा कि तो फिर कौन तुम्हारी (परमेश्वर की) आराधना करते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं—हे पार्थ ! महात्मानः तु दैवीम् प्रकृतिम् आश्रिताः इत्यादि—हे अर्जुन ! जिनका चित्त काम आदि दोषों से अभिभूत नहीं हैं ऐसे महात्मा लोग जो कि 'अभयं सत्त्व-संशुद्धि' इत्यादि श्लोकों से (गीता १६।१–३) आगे कही जाने वाली दैवी प्रकृति के (स्वभाव के) आश्रित हैं एवं इस लिये मुझसे अतिरिक्त अन्य किसी में जिनका मन नहीं रहता है, वे मुझे भूतादि अर्थात् जगत् का कारण और अव्यय (अविनाशी) अर्थात् नित्य जानकर भजते हैं।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार आसुरी संपत्ति वाले अविद्वानों की गति का प्रतिपादन कर अधुना (अब) दैवी संपत्तिशाली विद्वानों की स्थिति का प्रतिपादन करने के लिये उनमें उत्तम, मध्यम तथा अधम अधिकारी के भेद से ब्रह्मोपासना का भी भेद है यह अब तीन श्लोकों से कहते हैं। उनमें से दैवी संपत्ति वाले में जो उत्तम अधिकारी हैं उनके सम्बन्ध में कह रहे हैं—

महात्मानः तु—'तु' शब्द मूढ़ों से ब्रह्मविदों का वैलक्षण्य निर्देश करने के लिये है। बहुत जन्मोंतक परमेश्वर की आराधना के फलरूप से उनके अतिशय प्रसाद (कृपा) को प्राप्त होकर जिनके चित्त रागद्वेषादि

कषायों की (मलिनता की) निवृत्ति हो जाने के कारण विषयग्रहण में विमुखता (वैराग्य) प्राप्त कर सदा प्रत्येक आत्मा में प्रवणशील (अनुरक्त) होने से जिनका आत्मा (चित्त) महान् (उत्कृष्ट) हुआ है वे महात्मा हैं। इस प्रकार महात्मा अर्थात् प्रसन्नचित्त ब्रह्मवित् यति (संन्यासी) स्वयं **दैवीम् प्रकृतिम् आश्रिताः**—जो प्रकृति (संपत्ति अर्थात् तीव्र मोक्षेच्छा, वैराग्य, शम, दम, तितिक्षा उपरम आदि सत्त्व गुणों के आधिक्य से युक्त संपत्ति देव की (स्वयंप्रकाश परमात्मा की) प्राप्ति में अन्तरंग साधन होती है उसे दैवी प्रकृति या दैवी सम्पत् कही जाती है। इस प्रकार दैवी प्रकृति के आश्रित होकर **माम् भूतादिम् अव्ययम् ज्ञात्वा**—मुझे भूतों का आदि (भूतों की आविर्भूति का अर्थात् सृष्टि का कारण) एवं अव्यय [ज्ञान से, अज्ञान से, कारण के नाश से, कार्य के नाश से, अपने से या अन्य से किसी प्रकार से जिसका व्यय (नाश) नहीं होता है वह अव्यय है अर्थात् मुझको नित्य, सर्वात्मक, अखण्ड, आनंदैकरस पर ब्रह्म] जानकर (श्रवणादि द्वारा मुझको अपने आत्मा के रूप से भली भाँति जानकर) [ब्रह्मसूत्र में कहा गया है— 'तदनन्यत्वमारम्भण' इत्यादि। इस न्याय से कार्य के कारण रूप होने के कारण भूतों के पृथक् स्वरूप का अभाव तथा ब्रह्म का अद्वितीयत्व ज्ञापन करने के लिये 'भूतादि' यह उक्ति की गई है। शंका हो सकती है कि जैसा कदली आदि के कार्य के नाश से कारण का भी नाश देखने में आता है, वैसे हीं भूतों के नाश से ब्रह्म के नाश का प्रसंग उपस्थित होगा। इस शंका का निवारण 'अव्यय' शब्द से किया गया है।] **अनन्यमनसः**—जिनके मनका (बुद्धिवृत्ति का) विषय मुझसे अतिरिक्त (पृथक्) और कोई वस्तु नहीं है वे 'अनन्यमनसः' हैं। इस प्रकार होकर अर्थात् दूसरी वस्तु के दर्शन से रहित होकर **भजन्ति**—(मुझको) भजते हैं अर्थात् 'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ, इस प्रकार अप्रतिबद्ध (अविच्छिन्न) वृत्ति से सर्वदा सबको ब्रह्म ही देखते हैं। इसलिये 'महात्मा' यह विशेषण सार्थक है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्ववर्ती दो श्लोकों में राक्षसी तथा आसुरी प्रकृति से सम्पन्न मूढ़ व्यक्ति भगवान से विमुख होने के कारण मोघज्ञान, मोघकर्मा एवं मोघाशा (अर्थात् सर्वप्रकार से मनुष्य जीवन के परम पुरुषार्थसे वञ्चित) होता है, यह कहा गया है। अब उस से विपरीत दैवी प्रकृतियुक्त अर्थात् १६ अध्याय में (१-३ श्लोकों) कही गई अभय इत्यादि गुणों से भूषित व्यक्ति को कैसी गति होती है यह कह रहे हैं—

दैवी सम्पत्ति मोक्ष का साक्षात् कारण होती है क्योंकि इन सब गुणों से युक्त होने पर उनकी चित्तशुद्धि तुरन्त हो जाती है और चित्तशुद्धि होनेपर गुरुमुख से वेदान्तवाक्य के श्रवण तथा मनन के साथ-साथ ही तत्त्वज्ञान का उदय होता है। अतः दैवी प्रकृति का आश्रय लेनेवाले (दैवीसम्पत् से युक्त) व्यक्ति स्वतः ही महात्मा होते हैं। अज्ञानी (अविवेकी) व्यक्ति क्षुद्र देहेन्द्रियादि को ही आत्मा मानकर क्षुद्र, तुच्छ एवं संसारगति देनेवाले विषय सुखों में ही लिप्त रहते हैं, अतः वे 'क्षुद्रात्मा' होते हैं क्योंकि उनका आत्मा (चित्त) क्षुद्र (सीमित तथा अतिशय विनाशशील) विषयों में ही सत्यत्वबुद्धि रखकर रमण करता है। किन्तु दैवीसम्पत्ति के प्रभाव से जिनका चित्त शुद्ध तथा विवेकवान् हो गया है वे श्रवण व मनन से यह निश्चय करने में समर्थ होते हैं कि जगत् स्वप्नदृश्य या मरीचि का या इन्द्रजाल की भाँति मिथ्या है किन्तु इन सब की अधिष्ठानसत्ता जो शुद्धचैतन्यस्वरूप परमात्मा है वही एकमात्र सत्यवस्तु है अर्थात् रज्जुसर्पभ्रमवत् उस परमात्मा को नहीं देखने के कारण ही (अर्थात् अज्ञान के प्रभाव से ही) यह विश्वप्रपञ्च प्रतीत हो रहा है। अतः वे क्षुद्र नामरूपात्मक विषयों को असार (सत्ताहीन, मिथ्या) समझ कर उन सब का आधार जो महान् आत्मा—है ['सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात् नित्यसत्य, ज्ञानस्वरूप (शुद्धचैतन्यस्वरूप) एवं अनन्त (परिपूर्ण, सर्वव्यापी, असीम) ब्रह्म है] उसका अनुसन्धान करते हैं एवं उस में ही रमण करने का प्रयत्न करते हैं। इस कारण उनको 'महात्मा' कहते हैं। वे सब महात्मा विचार से अनायास ही जान लेते हैं कि मैं (परब्रह्म) ही सब भूतों का आदि अर्थात् कारण हूँ। सुवर्ण जिस प्रकार हार, वलय, कंगन इत्यादि का कारण है अर्थात् हार, वलय इत्यादि की सुवर्ण से कोई पृथक् सत्ता नहीं है क्योंकि सुवर्ण को ही भूलकर तत् तत् नाम तथा रूपों से वलयादि प्रतीत हो रहे हैं अथवा रज्जु जिस प्रकार सर्प, दण्ड धारा इत्यादि भ्रम से प्रतीत पदार्थों का कारण है, उसी प्रकार मैं (परमात्मा) भी सब विश्वप्रपञ्च का कारण हूँ—यह दैवी प्रकृति सम्पन्न (अतः शुद्धचित्त विवेकी) महात्मागण जानते हैं। प्रश्न होगा कि कार्य के नाश से तो कारण का नाश अवश्यम्भावी होगा। परब्रह्म यदि विनाशशील जगत् का कारण हो तब तो उनका भी नाश का प्रसंग उपस्थित होगा। इसके उत्तर में कहते हैं–नहीं, वे सब महात्मा यह भी जान लेते हैं कि मैं (परब्रह्म) अव्यय—(अविनाशी) हूँ। कार्य यदि वास्तविक सत्य वस्तु होता, तब तो कार्य के नाश से कारण के नाश का भी प्रसंग सम्भव होता किन्तु जो कुछ जगद्रूप कार्य दीखता है वह केवल

काल्पनिक हैं अतः मिथ्या हैं। इसलिए वलय कंगन इत्यादि के नाम तथा रूप का नाश होने पर जिस प्रकार सुवर्ण का नाश नहीं होता है—सर्प धारा दण्ड आदि की प्रतीति का अभाव होने से जिस प्रकार रज्जु का नाश नहीं होता है—स्वप्नदृश्य लुप्त होने पर जिस प्रकार स्वप्नद्रष्टा का नाश (हानि) नहीं होता है, उसी प्रकार समस्त विश्व का नाश होने पर भी मुझ परमात्मा का व्यय (क्षय अर्थात् नाश या हानि) नहीं होता है क्योंकि मैं (सर्वभूतात्मा, सर्वभूताधार, सर्वभूतादि) नित्य हूँ, सर्वव्यापी हूँ, स्थाणुवत् सदा स्थिर हूँ, अचल हूँ एवं सनातन हूँ (गीता २।२४)। महात्मा लोग मुझ को इसप्रकार जानकर अनन्यमनाः—होते हैं। क्योंकि उनके विचार में मुझ से (आत्मा से) अतिरिक्त अन्य (दूसरी) कोई वस्तु की सत्ता न रहने के कारण एकमात्र सत्य वस्तु मुझ में ही अपना सदा मन निविष्ट रखने का प्रयत्न करते हैं एवं उस प्रकार प्रयत्न करते हुए मेरा ही भजन करते हैं। इस प्रकार अनन्यचित्त तथा नित्ययुक्त होकर जो भगवान् का स्मरण निरन्तर (सदा) करता है, उसके लिये भगवान् की प्राप्ति सुलभ (अनायास) है, यह भगवान्ने पहले ही कहा है (गीता ८।१४)। अतः आसुरी तथा राक्षसी प्रकृति को छोड़कर दैवीप्रकृति का आश्रय कर जिस पुरुष का आत्मा (चित्त) महान् के (अर्थात् नित्य परिपूर्ण अनन्त भगवान् के) अनुसन्धान में तत्पर हुआ है वह शुद्ध-चित्त तथा विवेकवान् होकर एकमात्र भगवान को ही मायारचित सर्वभूतों का कारण (अधिष्ठान सत्ता) तथा अव्यय (अविनाशी) जानकर अनन्यमनाः होकर भगवान् का निरन्तर भजन (अनुस्मरण) करते हैं एवं अन्त में भगवत्-स्वरूप मोक्ष को प्राप्त कर मनुष्य जीवन की परमपुरुषार्थसिद्धि का सम्पादन करते हैं, यही कहने का अभिप्राय है।

[दैवी प्रकृति सम्पन्न महात्मागण कैसे भगवान का भजन (उपासना) करते हैं ? यह अब कहा जा रहा है—]

सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

अन्वय—मां सततम् कीर्तयन्तः यतन्तः दृढव्रताः च मां भक्त्या नमस्यन्तः च नित्ययुक्ताः (सन्तः) उपासते।

अनुवाद—(वे लोग) सर्वदा मेरा कीर्त्तन करते हैं इन्द्रियसंयम रूप धर्म अर्थात् शम, दम, दया, अहिंसा आदिरूप धर्म के द्वारा निर्मल ब्रह्मतत्त्व को हृदय में धारण करने के लिए प्रयत्नशील होकर, एवं

ब्रह्मचर्य्यादि व्रत दृढ़ रूप से धारण करके (सभी के हृदय स्थित आत्मस्वरूप) मुझको (सर्वदा) भक्तिपूर्वक नमस्कार करते रहते हैं (एवं इस प्रकार) मेरे साथ सदा युक्त रहकर (अर्थात् सदा ही मुझमें रत रहकर) मेरी उपासना करते हैं।

भाष्यदीपिका—मां—मुझको अर्थात् सकल उपनिषदों में प्रतिपाद्य ब्रह्मस्वरूप भगवान का सततं—सर्वदा कीर्तयन्तः—कीर्तन करते हुए [आनन्दगिरि के मत में यहाँ 'कीर्तन' शब्द का अर्थ है वेदान्तश्रवण तथा प्रणवजप। मधुसूदन सरस्वती का भी वही मत है उनके कहने का अभिप्राय यह है कि जो मुमुक्षु पहले दैवीसम्पत्सम्पन्न होकर संसार के विषयसुखों में वैराग्यवान् महात्मा हुए हैं (अर्थात् शुद्धचित्त हुए हैं) वे श्रोत्रीय तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप गमन कर वेदान्तवाक्य का श्रवण तथा मनन करते हैं एवं जिस समय श्रवणादि नहीं करते हैं उस समय प्रणवजप (अथवा भगवान् के दूसरे किसी प्रसिद्ध नाम का जप) तथा उपनिषद् की आवृत्ति प्रभृति द्वारा समस्त उपनिषदों के प्रतिपाद्य ब्रह्मस्वरूप भगवान का निरन्तर कीर्तन (अनुस्मरण) करते हैं।] किन्तु निरन्तर कीर्तन अभ्यास के विना सम्भव नहीं है, इसलिये कहते हैं–यतन्तः च–तथा इन्द्रियोपसंहार (इन्द्रिय का प्रत्याहार), शम, दम, दया एवं अहिंसारूप धर्मों से प्रयत्न करते हुए [मधुसूदन सरस्वती कहते हैं—शम, दमादि साधन सम्पत्ति में निष्ठावान रहकर गुरुमुख से वेदान्तश्रवण के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप के विषय में जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उसको स्थिररूप से धारण करने के लिए प्रयत्नशील होना (अर्थात पुनः पुनः प्रकृष्ट-रूप से यत्न करना) मुमुक्षु का कर्त्तव्य है। 'च' शब्द के द्वारा मनन समझाया जा रहा है। शास्त्र तथा आचार्य से ब्रह्मतत्त्व के सम्बन्ध में जो ज्ञान प्राप्त होता है वह यदि सर्व प्रकार से संशयशून्य न हो तो वह चित्त में दृढ़ रूप से स्थितिलाभ नहीं कर सकता है। वेदान्त शास्त्रानुकूल युक्ति तर्क के द्वारा ब्रह्म-स्वरूप के सम्बन्ध में प्रामाण्यबुद्धि का निश्चय करने का नाम है (अर्थात् जो कुछ सुना गया है वही यथार्थ सत्य है, उसके विरुद्ध दूसरी कोई युक्ति नहीं है, इस प्रकार से निश्चय करने का नाम है) मनन। इस प्रकार 'मनन' द्वारा गुरुमुख अथवा शास्त्र से प्राप्त ब्रह्मतत्त्व का दृढ़रूप से धारण करने के लिये महात्मागण प्रयत्नशील रहते हैं, यही 'यतन्तश्च' शब्द का तात्पर्यार्थ है।] दृढव्रताः—दृढ़ अर्थात् स्थिर अथवा चांचल्यरहित व्रत का अनुष्ठान जो लोग करते हैं उनलोगों को 'दृढ़व्रत' कहा जाता है। श्रवण तथा मनन के द्वारा जो तत्त्व का सत्यत्व निश्चित हुआ है उसमें ही स्थिररूप से निरन्तर स्थितिलाभ

करूँगा, अन्य किसी विषय की चिन्ता नहीं करूँगा, प्राण जाय तो भी इस तत्त्व से एकक्षण के लिए भी विचलित नहीं होऊँगा, ऐसा जिनलोगों का दृढ संकल्प रहता है वे महात्मालोग ही यथार्थरूप से 'दृढव्रत' हैं। इस प्रकार दृढ़व्रत होकर (आनन्दगिरि)। मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि विपक्षियों के द्वारा चलायमान न किये जा सकनेवाले अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह आदि व्रत जिनका दृढ़ हैं अर्थात् शमदमादि साधनों से जो सम्पन्न हैं वे दृढ़व्रत हैं। उनके मत में पातंजल योगसूत्र में जिसको महाव्रत कहा है उसे ही यहाँ दृढ़व्रत कहा गया है। वह सूत्र इस प्रकार है–'अहिंसासत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः। ते तु जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्॥ [किन्तु इस प्रकार की व्याख्या भाष्य के अनुकूल नहीं प्रतीत होती है। यह ठीक है कि ब्रह्मचर्यादि व्रतों का दृढ़ रूप से जो पालन नहीं किये हैं वे ब्रह्मतत्त्व अथवा आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करने में कभी भी समर्थ नहीं होते हैं किन्तु जो महात्मा दैवी प्रकृति के आश्रित हैं वे पहले ही अवश्य ब्रह्माचर्यादि व्रत का पालन करते हुए साधनचतुष्टयसम्पन्न होकर वेदान्तश्रवण का यथार्थ अधिकारी हुए हैं। इस श्लोक में वे साधनचतुष्टयसम्पन्न महात्मागण कैसे भगवदुपासना करते हैं वही कहा जा रहा है। अतः आनन्द-गिरिने दृढ़व्रत शब्द की जो व्याख्या किया है वही भाष्य के अनुकूल है]।

मां नमस्यन्तः च—हृदयस्थित आत्मस्वरूप मुझको नमस्कार करते हुए [इष्टदेवता गुरुरूप से स्थित मुझ सकल कल्याणगुण निधान भगवान् वासु-देव को शरीर, वाणी और मन से नमस्कार करते हुए। 'च' कार से "श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्" इस प्रमाण के अनुसार वन्दन के साथ रहने वाले श्रवणादि भी समझ लेने चाहिए। उस गुरुरूप भगवान् के प्रति अर्चन और पादसेवन सहजसाध्य ही है। यहाँ 'माम्' यह पुनरुक्ति अपने सगुण रूप का निर्देश करने के लिये की गई है, नहीं तो इस प्रकार की पुनरुक्ति की व्यर्थता का प्रसंग होगा (मधुसूदन)] **भक्त्या नित्ययुक्ताः (सन्तः)**—तथा भक्ति से अर्थात् मेरे प्रति परम प्रेम पूर्वक नित्य (सर्वदा) युक्त (संयुक्त) होकर [इससे समस्त साधनों की पुष्कलता (पुष्टि) तथा समस्त प्रतिबन्ध का अभाव दिखाया गया है। श्रुति भी कहती है—'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥' (अर्थात् जिसको इष्टदेव में अत्यन्त भक्ति है और जैसी इष्टदेव में है वैसी गुरु में भी है, उसी को उपदेश किये जाने पर उनकी बुद्धि में अर्थों का प्रकाश होता है।) महर्षि पतञ्जलि ने भी

कहा है—"ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽन्तरायाभावश्च" (उस से अर्थात् ईश्वर-प्रणिधान से प्रत्यक् चेतना का अर्थात् 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का त्वं पद के लक्ष्य वस्तु का अधिगम अर्थात् साक्षात्कार होता है तथा अन्तरायों का (विघ्नों का) अभाव होता है (मधुसूदन)।] उपासते—मेरी उपासना (सेवा) करते रहते हैं। [उक्त प्रकार शमदमादि साधनों से सम्पन्न तथा वेदान्त के श्रवण एवं मनन में तत्पर होकर महात्मा लोग मुझ परम गुरु परमेश्वर में प्रेम रख कर नमस्कारादि से विघ्नहीन तथा सर्वसाधनों से परिपूर्णरूप से सम्पन्न होकर मेरी उपासना करते हैं अर्थात् श्रवण और मनन परिपक्व होने पर जिनके सजातीय (ब्रह्माकारा) वृत्ति का प्रवाह विजातीय (विषयाकारा) वृत्ति से खण्डित न होकर निरन्तर चलता रहता है, उससे मेरा सर्वदा चिन्तन करते हैं। इससे अन्तिम साधन निदिध्यासन दिखाया गया है (अर्थात् 'कीर्तयन्तः' शब्द से श्रवण, 'यतन्तः' शब्द से मनन तथा 'नित्ययुक्ताः' शब्द से निदिध्यासन सूचित किया गया है)। इस प्रकार की साधन की पुष्कलता होने पर वेदान्त वाक्य के श्रवण से अखण्ड ब्रह्माकारा वृत्ति उत्पन्न होकर 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा साक्षात्कार रूप ज्ञान होता है वह समस्त शंकारूप कलङ्क को दूरीभूत कर देता है एवं सर्वसाधनों का फलस्वरूप है तथा अपनी उत्पत्तिमात्र से दीपक के समान अन्धकाररूप सम्पूर्ण अज्ञान और उसके कार्य का नाश कर देता है। अतः अन्य कोई साधन की अपेक्षा न रख कर वह स्वयं ही मोक्ष का (सद्योमुक्ति का) साक्षात् कारण होता है। इस ज्ञान के लिये भूमि के जय के क्रम से भ्रूमध्य में प्राणों के प्रवेश की, मूर्धन्य नाड़ी से प्राणों के उत्क्रमण की, अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक में जाने की तथा उसका भोग समाप्त होने के कालरूप विलम्ब की अपेक्षा नहीं होती। अतः 'इदन्तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ज्ञानम्' इस वाक्य से पहले जिसकी प्रतिज्ञा की गई है उस गुह्यतम अर्थात् अति गम्भीर (अति रहस्यपूर्ण) ज्ञान का ही यहाँ वर्णन किया है। इस ज्ञान का अशुभ संसार से मुक्त होना रूप फल तो पहले ही कह दिया गया, इस कारण यहाँ पुनः उसका उल्लेख नहीं किया गया। (मधुसूदन)]

टिप्पणी। (१) श्रीधर—उनके भजन का प्रकार अब दो श्लोकों द्वारा कहते हैं—सततं कीर्तयन्तः इत्यादि—कोई तो सर्वदा स्तोत्र मन्त्र आदि से मेरा कीर्तन करते हुए मेरी उपासना करते है (मेरी) सेवा करते है अर्थात् भजते हैं। फिर कोई तो दृढ़व्रत (नियम) रखकर मुझ ईश्वर की पूजादि के लिये एवं इन्द्रियों का विषयों से उपसंहार (निवृत्ति)

करने के लिये प्रयत्न करते हुए मेरी उपासना करते हैं। अन्य भक्तलोग भक्तिपूर्वक मुझको नमस्कार (प्रणाम) करते हुए नित्य (सर्वदा) मुझमें युक्त (संलग्न) रहकर सावधान होकर मेरी सेवा करते हैं। 'भक्ति पूर्वक' तथा 'नित्ययुक्त'—इन दोनों विशेषण कीर्तन आदि द्वारा उपासना करनेवालों में भी प्रयोज्य हैं, ऐसा समझ लेना चाहिए।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार (पूर्व श्लोक में) उत्तम अधिकारियों की उपासना का प्रकार कहकर अब मध्यम अधिकारियों का उपासना प्रकार कहते हैं—

दृढव्रताः—कोई मोक्षकामी अपने आत्मा के तत्त्व को जानने की इच्छा कर तीव्र मोक्ष की इच्छा तथा वैराग्य के द्वारा साधन सहित समस्त कर्म सम्यक् प्रकार से त्याग कर अपने जीवन आदि में भी अपेक्षा रहित ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि उत्तम धर्म से एवं बाह्य तथा भीतर की इन्द्रियों के निग्रह से दृढ़ (अविच्छिन्न अर्थात् निरन्तर) ज्ञान संपादन में तत्परता रूप व्रत (नियम) धारण कर सततम् कीर्तयन्तः—सर्वदा अर्थात् 'आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया' (शयन करने तथा मरने तक वेदान्त चिन्तन से काल को बितावे) इस स्मृति वाक्य के अनुसार निरन्तर मुझ प्रत्यक् आत्मा को उद्देश्य कर अर्थात् मेरी साक्षात्कार की सिद्धि के लिये सद्गुरु के समीप वेदान्तों का कीर्तन करते हुए अर्थात् पाठ करते हुए एवं उनके अर्थ का युक्ति से विचार करते हुए जिससे तत्त्व ज्ञान प्राप्त हो सके उसके लिये यतन्तः च—यत्न करते हुए ("तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" मैं मुमुक्षु आत्म सम्बन्धी बुद्धि को प्रकाश करने वाला उस देव की शरण लेता हूँ) इस श्रुति के अनुसार भक्त्या माम् नमस्यन्तः च—श्रद्धा और भक्ति पूर्वक ज्ञानदाता मुझ ईश्वर को ही नमस्कार (प्रार्थना) करते हुए नित्ययुक्तः—नित्य (निरन्तर) नियम से युक्त होकर तथा मेरी सेवा करने की इच्छा वाले होकर मेरी उपासना करते हैं अथवा नित्य की (मोक्ष की) सिद्धि के लिये युक्त (नियत अर्थात् संयत) होकर मेरी उपासना करते हैं। मूढ़ बुद्धि वालों को यह समझना चाहिए कि 'सततं कीर्तयन्तो माम्' इस प्रकार उक्ति से नाम कीर्तन करने के लिये भगवान बोल रहे हैं, क्योंकि उपक्रम, प्रकरण तथा विशेषणों के साथ विरोध होने के कारण नाम कीर्तन यहाँ सिद्ध नहीं होता है [अर्थात् यहाँ कीर्तन शब्द का तात्पर्य है वेदान्तों का श्रवण, पठन तथा मनन (विचार) क्योंकि वे ही तत्त्व ज्ञान प्राप्ति के साक्षात् अन्तरंग साधन है।]

(३) नारायणी टीका—दैवी सम्पत्सम्पन्न मुमुक्षु महात्मागण शमदमादि साधनों से सम्पन्न होकर वेदान्त श्रवण के अधिकारी होते हैं एवं वेदान्त श्रवण द्वारा यह जान लेते हैं कि एकमात्र आत्मस्वरूप ब्रह्म ही सत्य वस्तु एवं जगत् प्रपञ्च ब्रह्मरूप अधिष्ठान में केवल भ्रान्ति से प्रतीत हो रहा है। वह सब कल्पित अर्थात् मिथ्या है। कल्पित वस्तु की सत्ता अधिष्ठान की सत्ता से पृथक हो नहीं सकती है, अतः जो कुछ दीखता है वह ब्रह्म या वासुदेव ही है। इस प्रकार परोक्ष ज्ञान प्राप्त कर मुमुक्षु प्रणवजप के द्वारा आत्मस्वरूप परमब्रह्म अथवा भगवान का कीर्तन निरन्तर करते हैं अर्थात् समस्त नाम, रूप तथा क्रिया में एकमात्र ब्रह्म का ही अनुसरण करते हैं। इस प्रकार अभ्यास तथा मनन के द्वारा सर्व संशय रहित होकर गुरु मुख से अथवा शास्त्र मुख से सुना हुआ आत्मतत्त्व का स्वरूप हृदय में स्थिर रूप से धारण करने में प्रयत्नशील होते हैं। जितनी ही आत्मा के सत्यत्व तथा जगत के मिथ्यात्व के सम्बन्ध में निश्चय बुद्धि होती है उतना ही सर्व कर्म, सर्व वासना यहाँ तक कि प्राणरक्षा की वासना भी त्याग कर "सर्वभूतों के आत्मा वासुदेव का साक्षात्कार कर ब्राह्मी स्थिति अवश्य प्राप्त करूँगा" इस प्रकार दृढ़व्रत—होते हैं। इस प्रकार दृढ़व्रत होने पर स्वतः ही जीवात्मा परमात्मा को सर्वदा नमस्कार करता रहता है क्योंकि जीवभाव का विलय कर परमात्मा को सर्वत्र प्रतिष्ठित करने का वही श्रेष्ठ उपाय है। इस प्रकार नमस्कार ही परमात्मा के प्रति जीवात्मा की भक्ति अथवा अत्यन्त प्रेम का निदर्शन (चिह्न) है क्योंकि इस प्रकार भक्ति के साथ नमस्कार के फलस्वरूप जीव परमात्मा के साथ नित्ययुक्त रहते हैं एवं नित्ययुक्त होकर निरन्तर ब्रह्म के 'उप' अर्थात् समीप में आसन ग्रहण अर्थात् परमात्मा में स्थिति लाभ करते हैं। महात्मागण कैसी उपासना करते हैं इसका विवरण देते हुए श्रीभगवान् आत्मसाक्षात्कार के साधनों के क्रम का वर्णन भी इस श्लोक में स्पष्ट रूप से किये हैं।

[पूर्ववर्ती श्लोक में उक्त श्रवण, मनन और निदिध्यासन में जो असमर्थ हैं परन्तु मुझको प्राप्त करना चाहते हैं वे भी उत्तम, मध्यम तथा मन्द इन तीन प्रकार के होते हैं। वे अपनी अपनी योग्यता के अनुसार किस-किस प्रकार से उपासना करते हैं सो कहते हैं—]

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

अन्वय—अन्ये ज्ञानयज्ञेन अपि च यजन्तः माम् एकत्वेन उपासते, (केचन) पृथक्त्वेन; (केचन) विश्वतोमुखम् माम् बहुधा उपासते।

अनुवाद—कोई कोई व्यक्ति ज्ञानयज्ञ के द्वारा भी मेरा पूजन करते हुए मेरी उपासना करते हैं। उनमें (उत्तम अधिकारी) एकत्व रूप से अर्थात् परमब्रह्म वासुदेव ही सब है एवं मैं ही वह वासुदेव हूँ, इस प्रकार अभिन्न रूप से मेरी उपासना करते हैं (मुझमें स्थित रहते हैं)। पुनः कोई (मध्यम अधिकारी) पृथक्रूप से अर्थात् अपने से मुझ परमात्मा को पृथक् (भिन्न) मानकर मेरी उपासना करते रहते हैं और कोई (मन्द अधिकारी) अनेक प्रकार के देवतारूप से सर्वतोमुख (विश्वरूप) मेरी विविध प्रकार से उपासना करते हैं।

भाष्यदीपिका—अन्ये—अन्य उत्तमाधिकारीगण (जो श्रवण मननादि के द्वारा ब्रह्मतत्त्व अथवा आत्मतत्त्व को परोक्षभाव से जान गये हैं उनमें से कोई कोई) ज्ञानयज्ञेन अपि च–ज्ञान ही भगवद्विषय में यथार्थ यज्ञ है (क्योंकि ज्ञान के द्वारा ही भगवान पूजित होते हैं) अतः वे उत्तमाधिकारी पुरुष अन्य उपासनाओं को छोड़कर भगवद्विषय के ज्ञानरूप यज्ञ के द्वारा ही [अभिप्राय यह है कि "एकमात्र भगवान् ही सर्वभूत के आत्मा है एवं वही मैं हूँ" इस प्रकार की निश्चयात्मिका बुद्धि [अर्थात् अहंग्रहोपासना (मधुसूदन)] को ज्ञान कहा जाता है। सभी प्राणी आत्मा की तृप्ति के लिये ही कर्म करते हैं, अतः भगवद्विषय ज्ञान होने से भगवान सर्वत्र सर्व कर्म से पूजित होते हैं। इसी अवस्था में ज्ञान ही यज्ञरूप में परिणत होता है। 'च' शब्द को यहाँ 'एव' कार अर्थ में व्यवहार किया गया है। और 'अपि' शब्द का तात्पर्य है 'अन्य समस्त साधनों का त्याग कर'। अतः 'ज्ञानयज्ञेन अपि च' पद का अर्थ है—'अन्य समस्त साधन (उपासना) परित्याग कर एकमात्र ज्ञानरूप यज्ञ के द्वारा ही'। 'ज्ञानयज्ञ' शब्द के द्वारा इस श्लोक में उत्तमाधिकारी का निर्देश किया गया है क्योंकि गीता में अन्यत्र (४।३३ श्लोक में) कहा गया है 'श्रेयान्द्रव्यमयाद् यज्ञाज् ज्ञानयज्ञः' अर्थात् द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है।]

यजन्तः—पूजन करते हुए माम्—(सर्वात्मा) परमेश्वर को एकत्वेन च—एकत्व के द्वारा अर्थात् एकमात्र परमब्रह्म ही सत् वस्तु है (एवं मैं ही वह ब्रह्म हूँ) इस प्रकार उपास्य तथा उपासक का अभेद चिन्तारूप परमार्थ दर्शन से उपासते—(मेरी) उपासना (चिन्तन) करते हैं अर्थात् इस प्रकार अनुसन्धान में निरन्तर तत्पर होते हैं। [ऐसी उपासना में नामरूप तथा क्रियायों में पार्थक्य बोध (भेद बुद्धि) नहीं रहता है। एकमात्र परमब्रह्म परमात्मा वासुदेव ही विद्यमान है और कुछ भी नहीं है, ऐसा बोध रहता है। इस भाव को विश्वातीत अथवा तुरीय भाव (Transcedental idea) कहा जाता

है। (केचन) पृथक्त्वेन उपासते—पुनः कोई कोई पृथक्भाव से अर्थात् आदित्य, चन्द्र, विष्णु आदि के भेद से (भिन्न भिन्न मूर्त्ति में) 'एक ही भगवान् आदित्य, चन्द्र, विष्णु, प्रभृतिरूप में अवस्थित हैं' इस प्रकार समझकर उपासना करते हैं। ऐसी उपासना में पृथक् पृथक् देवता की मूर्त्ति एक ही सच्चिदानन्दभगवान की विभूतियाँ है एवं सर्वमूर्ति में एकमात्र भगवान ही विराजित हैं, इस प्रकार ज्ञान अक्षुण्ण (अचल) रहता है अर्थात् हार, वलय कंगन इत्यादि के नामरूप में भेद रहनेपर भी इन वस्तुओं में एकमात्र सुवर्ण ही विद्यमान है, यह ज्ञान जिस प्रकार स्वर्णकार के मन से लुप्त नहीं होता है, उसी प्रकार नानामूर्त्ति में भगवान् की पूजा होनेपर भी सर्वत्र एक ही पूर्ण भगवान विराजमान हैं यह ज्ञान ऐसे उपासकों की बुद्धि से कभी भी लुप्त नहीं होता। [इसे प्रतीकोपासना कहा जाता है (मधुसूदन)।] (केचन) विश्वतोमुखम् माम् बहुधा उपासते—कोई दूसरे मन्द साधक जो अहंग्रह या प्रतीकोपासना करने में समर्थ नहीं है, वे समझते हैं कि वही विश्वतोमुख (सर्वतोमुख अर्थात् विश्वरूप) भगवान् अनेक रूप से स्थित हैं। [अतः वे किसी दूसरे देवता की उपासना से अथवा किन्हीं-किन्हीं कर्मों को करते हुए विविध (नाना) प्रकार से विश्वरूप सर्वात्मा मेरी ही उपासना करते हैं। इस प्रकार मेरा भक्त अपने अपने अधिकार के अनुसार उस-उस ज्ञानयज्ञ से मेरी उपासना करते हैं—इसका अभिप्राय यह है कि उत्तरोत्तर (आगे आगे की) उपासना के क्रम से पूर्व-पूर्व भूमि का लाभ होता है। (मधुसूदन)]

टिप्पणी। (१) श्रीधर—अन्ये ज्ञानयज्ञेन च यजन्तः माम् उपासते—'वासुदेव ही सब कुछ है' इस प्रकार मुझको सबके आत्मारूप से देखना ही ज्ञान है एवं वही यज्ञ है। इस प्रकार ज्ञानयज्ञ के द्वारा अन्य साधकलोग मेरी उपासना (पूजा) करते हैं। एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् माम् (उपासते)—उक्त उपासकों में भी कितने तो एकत्वभाव से अर्थात् 'एक ही परब्रह्म है' इस परमार्थदर्शनरूप अभेद भावना से मेरी उपासना करते हैं और कितने तो पृथक्त्वभावना से उपासना करते हैं। फिर अन्य बहुत से साधक मुझ सब ओर मुखवाले अर्थात् सर्वभूतों के आत्मारूप मेरी (परमेश्वर की) नाना प्रकार से अर्थात् ब्रह्मा, रुद्र आदि रूपों में उपासना (आराधना) करते हैं।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार जो मुमुक्षु यति आत्मतत्त्व को जानने की इच्छा करते हैं उनकी वेदान्तश्रवणरूप उपासना का प्रतिपादन कर अब वेदान्तश्रवण और मनन से जो यति सम्यक् प्रकार से आत्मतत्त्व जान लिये हैं उनकी निदिध्यासनादिरूप आत्मा की उपासना का प्रतिपादन करते हैं—

ज्ञानयज्ञेन च अपि—जीव और ब्रह्म का एकत्व बोध जिससे होता है वह ज्ञान है—वही ब्रह्म की उपासना का साधन होने के कारण यज्ञ कहलाता है। उस ज्ञानयज्ञ से भी **अन्ये**—कोई अपक्व अन्तरात्मावाले (अर्थात् अन्तरात्मा को जो भलीभाँति साक्षात् कर नहीं सके हैं वे) **यजन्तः**—'ब्रह्म ही मैं हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अपने को ब्रह्मरूप से भावना करते हुए **माम् उपासते**—मेरी अर्थात् प्रत्यगभिन्न परब्रह्म की उपासना करते हैं अर्थात् विपरीत भावना को नष्ट करने के लिये नित्य (सदा) मेरा अनुसन्धान (स्मरण) करते हैं। [कोई कर्मी कर्मयज्ञ से मेरी उपासना करते हैं, यह सूचित करने के लिये श्लोक में 'अपि' शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रश्न होगा—ज्ञानयज्ञ से तुम्हारी किस प्रकार उपासना करनी चाहिए, भेद बुद्धि से या अभेदबुद्धि से ? (उत्तर) श्रुति में जो कहा है 'स चायम्' (जो यह पुरुष में है और जो यह आदित्य में है वह एक है), 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है), 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ), उन वाक्यों के अर्थ को ब्रह्मविद् आचार्य के मुख से रहस्य के साथ सम्यक् प्रकार से जानकर उसी अर्थ का श्रुति में वर्णित विशेषों से अपने आत्मरूप से ठीक ठीक अनुभव करके पुनः भेदबुद्धि का अवलम्बन न कर जो ब्रह्म और आत्मा के एकत्व की सर्वदा भावना करने में समर्थ हैं, उनको एकत्व से उपासना करना चाहिए और जो असमर्थ हैं, उनको भेदबुद्धि से उपासना करना होगा, ऐसा समझाने के लिये कहते हैं—**एकत्वेन पृथक्त्वेन**—जो मुख्याधिकारी परमहंस यति (संन्यासी) ज्ञानयज्ञ से उपासना करते हैं वे एकत्व से (अभेद से) अर्थात् 'ब्रह्म ही मैं हूँ' इस प्रकार अपने से अभिन्नभाव से मेरी उपासना करते हैं और जो मध्यमाधिकारी हंस, कुटीचक आदि हैं वे तो पृथक्त्व से ('अपनी आत्मा से ब्रह्म भिन्न है') इस प्रकार भेद बुद्धि से **विश्वतोमुखम् माम् बहुधा उपासते**—सर्वात्मक मुझ को बहुधा (अनेक प्रकार से अर्थात् 'आदित्य ब्रह्म है' 'मन ब्रह्म है,' 'ओम् इस एक अक्षर से' इत्यादि श्रुति में उक्त (कथित) रीति से अनेक प्रकार से उपासना करते हैं। उनमें भी जो लोग मुमुक्षु एवं वेदमार्गानुगामी हैं किन्तु ज्ञानयज्ञ में अधिकार (सामर्थ्य) प्राप्त नहीं किये हैं, वे 'सोमेन यक्ष्ये' ('सोम से यजन करूँगा') इत्यादि कर्मयज्ञ से इन्द्र आदि रूप में मेरी उपासना करते हैं। उनमें भी कोई शिव, विष्णु, ब्रह्मा, आदित्यरूप तन्त्र एवं वैदिक मार्ग से (उपाय से) मेरी उपासना करते हैं।

(३) नारायणी टीका—१३ वें श्लोक में भगवान् ने कहा है कि दैवी प्रकृति सम्पन्न महात्मा लोग मुझ परमात्माको सब भूतों के अविनाशी अभिन्न

निमित्त उपादान कारण जानकर अर्थात् परमात्मा ही एकमात्र नित्य सत्य वस्तु है उसके अतिरिक्त नामरूपात्मा जो विश्वप्रपञ्च दृष्ट होते हैं वे इन्द्रजाल के समान कल्पनाशक्ति से (माया से) मुझमें अध्यस्त हैं अतः मिथ्या है। ऐसा जानकर मिथ्या वस्तु में दृष्टि न रखकर मेरी सत्ता को ही सर्वत्र स्वीकार कर अनन्य मन से मेरा भजन करते हैं। १३ वें श्लोक में किस क्रम से साधन करने से अनन्यमनाः तथा भगवान् के साथ नित्ययुक्त होने में (सदा ही युक्त अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के एकत्व का सदा ही अनुभव करने में) समर्थ होते हैं यह कहा गया है। इस प्रकार नित्ययुक्त होने पर सविकल्प समाधि होती है। 'तदेवार्थमार्थमात्तनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' (पातञ्जल योग सूत्र ३।३) अर्थात् जिस समय ध्येय विषय का ही बोध होता रहता है ध्याता अपने स्वरूप का (सत्ता का) स्मरण नहीं करता है उस अवस्था को सविकल्प समाधि कही जाती है। अनन्यमनाः होकर भगवान् के साथ नित्ययुक्त रहने पर केवल भगवत् सत्ता का ही सर्वदा एवं सर्वत्र स्फुरण होता रहता है भक्त को अपनी कोई पृथक् सत्ता का बोध नहीं रहता है। तथापि यह चरम (अन्तिम) अवस्था नहीं है क्योंकि उसमें भी ध्येय का चिन्तन रहता है अतः विकल्प भी रहता है इसलिये इसे 'सविकल्प समाधि' कहते हैं। अभ्यास परिपक्व होने पर वही अन्त में निर्विकल्प समाधि में परिणत होने से पृथक् रूप से ध्येय, ध्यान तथा ध्याता (अर्थात् त्रिपुटी) का बोध लुप्त होता है उसी अवस्था में एकमात्र शुद्ध चैतन्य सत्ता ही विद्यमान रहती है—ध्येय, ध्यान तथा ध्याता सभी उस सत्तामात्र में परिसमाप्त हो जाते हैं अर्थात् मन उसी अवस्था में आत्मसंस्थ होने के कारण (आत्मा में सम्यक् प्रकार से स्थिति लाभ करने के कारण) और कुछ चिन्तन या विकल्प नहीं रह सकता (गीता ६।२५।) । पातञ्जल योगशास्त्र में भी कहा गया है 'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः' (पा० यो० १।५१) अर्थात् सर्व प्रकार के विकल्प का निरोध होने पर निर्बीज (निर्विकल्प) समाधि प्राप्त होती है। इस निर्विकल्प समाधि से ही आत्मसाक्षात्कार अर्थात् परब्रह्म और आत्मा एक ही है यह साक्षात्—अनुभव होता है एवं इसके फलरूप से योगी जीवन्मुक्त की अवस्था को तथा मृत्यु के पश्चात् सद्योमुक्ति को प्राप्त होते हैं। मनुष्य जीवन की यही पूर्ण सफलता है। अतः (१) निर्विकल्प समाधि साक्षात्—मुक्ति का साधन है इसमें उपासना रूप क्रिया नहीं रहती है केवल बोधरूप सत्तामात्र विद्यमान रहता है। (२) जब योगी अनन्यमनाः होकर नित्ययुक्त रहते हैं अर्थात् भगवान् की सत्ता ही केवल उनके चिन्तन का विषय रहता है तब वह उस

प्रकार निरन्तर चिन्तन के फल रूप से सविकल्प समाधि को प्राप्त होते हैं। सविकल्प समाधि आत्मसाक्षात्कारका अतिनिकट (अन्तरंग) साधन है। तथापि उसमें मनकी क्रिया (चिन्तन या विकल्प) रहती है इसलिये इसको भी एक प्रकार की उपासना कही गई है (३) जो मुमुक्षु योगी 'नित्ययुक्त' होने में असमर्थ हैं वे साधनचतुष्टय सम्पन्न होकर सद्गुरु से वेदान्त वाक्य का श्रवण तथा मनन कर यह निश्चय कर लेते हैं कि जगत् मिथ्या है एवं अहंपदका लक्ष्य पदार्थ जो चैतन्य स्वरूप आत्मा है वही भगवान् या परब्रह्म एकमात्र सत्य वस्तु है अतः 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि' इत्यादि श्रुति वाक्य के अनुसार सर्वत्र अहं का विलास ही देखते हैं अर्थात् जीव तथा ब्रह्म का एकत्व मानकर अहंग्रहोपासना करते हैं। सब वस्तु में 'अहं' को देखना ही ज्ञान है एवं उससे ही परमेश्वर का यजनरूप यज्ञ होता है, इसलिये वह 'ज्ञानयज्ञ' है। इस प्रकार योगी को उपास्य तथा उपासक का भेद चिन्तन न रहने के कारण अन्य कोई साधन की अपेक्षा नहीं रहती। यही सूचित करने के लिये श्लोक में 'च' एवं 'अपि' शब्दों का प्रयोग हुआ है। एकत्वबुद्धि से ज्ञानयज्ञरूप उपासना में भी 'अहं ब्रह्म अस्मि' इस प्रकार चित्तवृत्ति रहती है। अतः यह संप्रज्ञात समाधि का अन्तरंग साधन होने पर भी मोक्ष के साक्षात् साधन असंप्रज्ञात (निर्विकल्प) समाधि से दूर है। (४) जो मुमुक्षु उपास्य-उपासक में अभेद चिन्तन से उपासना नहीं कर सकते हैं, अपने से भिन्न (पृथक्) कोई प्रतीक को (राम, कृष्ण, आदित्य को) ब्रह्मस्वरूप मानकर अर्थात् वह ब्रह्मस्वरूप भगवान् ही सर्वत्र राम, कृष्ण अथवा आदित्य आदि रूप से अवस्थित है, इस प्रकार निश्चयात्मिका बुद्धि से उपासना करते हैं। इस प्रकार उपासना में "उपासक मैं उपास्य भगवान् से पृथक् हूँ" ऐसी भावना रहती है किन्तु सुवर्णकार जिस प्रकार सुवर्ण (सोने) के अलंकारों में सुवर्ण को ही देखता है भिन्न भिन्न अलंकारों के नाम तथा रूप को वाक्य का विलास मात्र (अर्थात् मिथ्या) जानते हैं, उसी प्रकार वह योगी भी विश्व के नाम रूप में कोई प्रकार सत्यबुद्धि न रखकर उनके अधिष्ठान-स्वरूप अविनाशी अविकारी अखण्ड अद्वय परमात्मा के प्रतीक को ही देखते हैं अर्थात् इस प्रकार की उपासना में भक्त और भगवान् की ही लीला चलती है नामरूपात्मक जगत् में मिथ्यात्व बुद्धि दृढ रहती है। अतः यह भी ज्ञान यज्ञ ही है। इस प्रकार की उपासना परिपक्व होने पर मन जब भगवान् का निरन्तर चिन्तन करने से भगवत् सत्ता में वृत्तिहीन होकर जब जाता है तब ध्येय वस्तु ही अवशिष्ट रहने के कारण पहले सविकल्प समाधि एवं अंत में

निर्विकल्प समाधि अवस्था प्राप्त होती है। अतः यह भी उच्चकोटि के योगी का साधन है। (५) कोई कोई दैवीसम्पत्सम्पन्न होकर भी तथा गुरुमुख से वेदान्तवाक्य श्रवण करते हुए भी नामरूपात्मक जगत् सम्पूर्णरूप से मिथ्या है यह दृढरूप से धारण करने में असमर्थ होते हैं एवं इसलिये विषयों में पूर्णरूप से वैराग्यवान् भी नहीं हो सकते हैं। इसप्रकार के योगी नाना प्रकार में विश्वरूप भगवान् की उपासना करते हैं अर्थात् "मैं सर्व इन्द्रियों से जो कुछ विषय ग्रहण कर रहा हूँ वह भगवत् स्वरूप ही है, जो कुछ सुन रहा हूँ वह भगवान का ही नाम है, जो कुछ दान कर रहा हूँ या जो कुछ भोजन कर रहा हूँ वह भगवान् में ही अर्पित हो रहा है इस प्रकार सर्व नाम रूप तथा क्रियाओं में भगवान् को प्रतिष्ठित कर उपासना करने को विश्वतो मुख उपासना कही जाती है। श्रीभगवानने भी अपने मुख से पहले ही ब्रह्मार्पणम् इत्यादि (गीता ४।२४) द्वारा विश्वतोमुख की उपासना कैसे करना चाहिए, यह कहा है एवं आगे भी 'यत् करोषि यदश्नासि' इत्यादि द्वारा (गीता ९।२७–२८) में कहेंगे। यह भी ज्ञानयज्ञ ही है किन्तु "समस्त नाम, रूप तथा क्रिया भगवान् के ही रूप हैं एवं मैं भगवान् का उस विश्वरूप का उपासक हूँ" इस प्रकार भावना रहनेके कारण उपास्य और उपासक में भेदबुद्धि तो रही जाती है परन्तु नाम, रूप तथा क्रिया में (जो माया के विलास होने के कारण मिथ्या हैं उसमें) भी दृष्टि रही जाती है। अतः यह तृतीय श्रेणी का ज्ञानयज्ञ माना जाता है। इन तीनों प्रकार के ज्ञानयज्ञ से ही चित्त का क्रमशः (क) एकाग्रता परिणाम, (ख) समाधि-परिणाम तथा (ग) निरोध-परिणाम होकर [पातञ्जल योग दर्शन ३।९,११,१२] आत्मसात्कार होता है किन्तु एकत्व बुद्धि से उपासना अतिशीघ्र लक्ष्य स्थान में पहुँचा देती है। और पृथक्त्व बुद्धि से उपासना से तथा विश्वरूप की उपासना से देर होता है, यही विशेषत्व है।

[पूर्ववर्ती श्लोक में श्रीभगवानने कहा 'कोई कोई विश्वरूप (विराट) भगवान की विविध प्रकार से उपासना करते हैं'। अब प्रश्न हो सकता है "यदि वे लोग अनेक प्रकार से उपासना करते हैं तो वे तुम्हारी उपासना करते हैं, वह कैसे समझेंगे ?" ऐसे संशय की निवृत्ति के लिए भगवान् चार श्लोकों में अपनी विश्वरूपता का प्रतिपादन कर रहे हैं]

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

अन्वय—अहं क्रतुः, अहं यज्ञः अहं स्वधा अहम् औषधम्, अहं मन्त्रः, अहम् एव आज्यम् अहम् अग्निः, अहं हुतम् ।

अनुवाद—मैं क्रतु हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं स्वधा हूँ, मैं औषध हूँ, मैं मंत्र हूँ, मैं ही आज्य अर्थात् घृत हूँ, मैं अग्नि हूँ एवं मैं ही होम (हवनरूप क्रिया) भी हूँ।

भाष्यदीपिका—अहं क्रतुः—मैं क्रतु अथवा श्रुति अथवा वेदविहित अग्निष्टोमादि विभिन्न कर्म हूँ। अहं यज्ञः—मैं ही यज्ञ अर्थात् स्मृतिविहित पंचमहायज्ञ अर्थात् बलि वैश्वदेवादि यज्ञ हूँ। अहं स्वधा—मैं स्वधा हूँ। पितृगणों के उद्देश्य से जो अन्न अर्पित होता है उस अन्नादि वस्तु को स्वधा कहा जाता है; अथवा सर्वप्राणियों का जो साधारण अन्न है वह स्वधा है। उस स्वधा के रूप में मैं ही विराजित हूँ।

अहम् औषधम्—मैं ही औषध हूँ। सभी प्राणियों से जो खायी जाती है उसका नाम औषध है। अथवा व्याधि की शान्ति के लिए जिस भेषज का व्यवहार किया जाता है उसको औषध कहा जाता है। मैं ही सर्व प्रकार के औषध के रूप में विद्यमान हूँ।

अहम् मंत्रः—तथा जिसके द्वारा देव और पितरों को हवि दी जाती है वह मन्त्र भी मैं ही हूँ। [याज्यपुरोनुवाक्य प्रभृति ऋक् विशेष जिनके द्वारा देवताओं के उद्देश्य से हवि दी जाती है वह मंत्र है (श्रीधर, मधुसूदन)]

अहम् एव आज्यम्—मैं ही आज्य अर्थात् हविः (घृत) हूँ। घृतको आज्य कहते है किन्तु यहाँ सभी हवियों का उपलक्षण रूप से आज्य शब्द व्यवहृत हुआ है (मधुसूदन)। श्रीधर स्वामी कहते कि होम के सभी साधन को आज्य कहा जाता है।]

अहम् अग्निः—जिसमें हवन किया जाता है वह आहवनीयादि अग्नि भी मैं ही हूँ।

अहं हुतम्—मैं ही हवनरूप क्रिया भी हूँ [हवन या हवि डालने को हुत कहते हैं। ये सब मैं परमेश्वर ही हूँ। इनमें से एक-एक के साथ 'अहम्' शब्द दिया है। सबका सम्मिलित अर्थ यह है कि क्रिया, कारक और फल कोई भी वस्तु भगवान् से भिन्न नहीं है]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—अब भगवान् अपने सर्वात्मभाव का (अर्थात् वे ही सर्वरूप से एवं सबकी आत्मा के रूप से विद्यमान हैं यह) चार श्लोकों द्वारा विस्तार करते हैं—अहम् क्रतुः इत्यादि—मैं क्रतु हूँ अर्थात् अग्निष्टोम आदि श्रौत (वैदिक) कर्म मैं हूँ। मैं ही यज्ञ अर्थात् पञ्चमहायज्ञ आदि स्मार्त

कर्म हूँ। मैं स्वधा अर्थात् पितृपुरुषों के लिये करणीय श्राद्धादि कर्म हूँ। मैं औषध हूँ अर्थात् औषधि से जो उत्पन्न होता है अन्न अथवा भेषज (दवा) वह मैं ही हूँ। मैं ही मन्त्र हूँ आज्या तथा पुरोऽनुवाक्या आदि मंत्र हूँ। फिर मैं ही आज्य (होमादि का साधन घृत आदि) हूँ। मैं ही आहवनीय आदि अग्नि हूँ और मैं ही हुत (होमरूप क्रिया) हूँ। कहने का अभिप्राय यह है कि मैं (परमेश्वर) ही सब हूँ अर्थात् सर्वरूप में एकमात्र मैं ही विराजमान हूँ।

(२) शंकरानन्द—(प्रश्न) श्रुति में कहा है 'यत्तदद्रेश्यम्' (जो वह अदृश्य है) 'तदरूपमनामयम्' (वह रूपरहित और रोगरहित) 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः' (वह प्रकाशशील अमूर्त पुरुष) इत्यादि। अतः इन श्रुतियों में परब्रह्म के नाम, रूप आदिका अभाव ही प्रतिपन्न किया गया है इस अवस्था में नाम रूपादि से शून्य (नामरूपधारी) इन्द्र आदि में तथा शिव आदि में ब्रह्मबुद्धि से किस प्रकार तुम्हारी उपासना हो सकती है? (उत्तर) नहीं, श्रुति यह भी कहती है—'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (इन्द्र माया से बहुत रूप धारण करते हैं), 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (माया को तो प्रकृति जानो और मायाविशिष्ट चेतन सत्ता है महेश्वर जिसके अवयव रूप भूतों से यह समस्त जगत् व्याप्त है), 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (एक सत्को ब्राह्मण लोग बहुत प्रकार से कहते हैं), 'इन्द्रं मित्रं' वरुणमग्निमाहुः' (उसको इन्द्र, मित्र वरुण और अग्नि कहते हैं) अतः इन सब श्रुतियों से मुझ परमब्रह्म का ही माया से सविशेषत्व एवं सार्वात्म्य (सर्वभूतों का आत्मत्व) का प्रतिपादन किया गया। इस लिये इन्द्रादि, शिवादि और क्रतु यज्ञ, मन्त्र आदि तथा समस्त जगत् मैं ही हूँ, इस प्रकार से मेरा विश्वतोमुखत्व भी प्रतिपादन करते हैं—

अहम् क्रतुः एव—अग्नि के आधान से लेकर अश्वमेध पर्यन्त श्रुति में उक्त जो याग है उसे क्रतु कहा जाता है, वह मैं ही हूँ। 'एव' शब्द 'ही' अर्थ में मुझसे अतिरिक्त और कोई नहीं अर्थात् मेरा अद्वितीयत्व सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त हुआ है। इस 'एव' कार का सबके साथ अन्वय होगा। अहम् यज्ञः एव औपासन से लेकर ईशानवलि पर्यन्त स्मार्त याग को यज्ञ कहा जाता है। वह भी मैं ही हूँ। क्रतु और यज्ञ अंगी हैं, इन दोनों अंगियों में ब्रह्मत्व के होने के कारण उनके अंग देवता, यजमान आदि में भी ब्रह्मत्व जानना चाहिए। अहम् एव स्वधा—पितरों के लिये जो पार्वण श्राद्ध आदि किया जाता है वह स्वधा है। वह स्वधा भी मैं ही हूँ। अहम् औषधम् एव—

व्रीहि आदि औषधियों से उत्पन्न हुआ जो अन्न प्राणियों द्वारा खाया जाता है वह औषध मैं ही हूँ। भोज्य यदि ब्रह्मरूप हो तो भोक्ता आदि का भी ब्रह्मत्व सिद्ध होता है। अहम् मन्त्रः एव—जिस स्वाहा-स्वधा रूप मन्त्र को अन्त में उच्चारण कर देवताओं और पितरों के लिए हवि दिया जाता है, वह मन्त्र मैं ही हूँ। अहम् आज्यम् एव—आज्य अर्थात् यज्ञ में जो चरु पुरोडाश आदि दिया जाता है वह भी मैं ही हूँ। अहम् अग्निः अहम् हुतम् एव—(यज्ञका) अग्नि भी मैं ही हूँ एव हुत अर्थात् हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ।

(३) नारायणी टीका—१९ वें श्लोक की नारायणी टीका द्रष्टव्य।

[पुनः—]

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

अन्वय—अहम् अस्य जगतः पिता माता धाता पितामहः (च) तथा (अहमेव) पवित्रम् वेद्यम् ओंकार (अहम्) ऋक् साम यजुः एव च।

अनुवाद—मैं इस जगत् का पिता माता, धाता (विधाता अर्थात् कर्मफल दाता) एवं पितामह (पिता का पिता) हूँ। मैं ही पवित्र (पवित्र करने वाला) अर्थात् जिसके द्वारा पाप से मुक्त होकर जीवसकल पूत (शुद्ध) होते हैं वह गंगा गायत्री जप इत्यादि के रूप में ही विद्यमान हूँ। मैं ही वेद्य अर्थात् जानने योग्य सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ। मैं ही उस परम ब्रह्म को जानने का साधन रूप ओंकार हूँ मैं ही परम ब्रह्म के प्रमाण स्वरूप ऋक् वेद सामवेद तथा यजुर्वेद हूँ। एव शब्द से यह सूचित किया गया है कि मैं अथर्वांगिरसभी हूँ अर्थात् चतुर्वेद एवं सब कुछ मैं ही हूँ।

भाष्यदीपिका—अहम् अस्य जगतः-मैं इस जगत् का अर्थात् निखिल प्राणियों का पिता—जनयिता (जनक) माता—जनयित्री (जननी) धाता मैं प्राणियों का कर्मफल का विधाता हूँ अर्थात् सभी प्राणियों को कर्मानुसार फल प्रदान करने वाला मैं ही हूँ। [धाता शब्द का पोषण-कर्ता के अर्थ में भी प्रयोग होता है अर्थात् मैं सभी का पोषण करने वाला हूँ, यह कहने का अभिप्राय है (मधुसूदन)] पितामहः—(मैं केवल पिता ही नहीं हूँ मैं) सर्वप्राणियों के पिता के भी पिता हूँ (तथा अहमेव) पवित्रम्—(पुनः मैं ही) पवित्र अर्थात् पावन [जिसके द्वारा पूत (शुद्ध) होता है अर्थात् पापों से मुक्त होते हैं उन गंगा गायत्री जप इत्यादि रूप से पवित्र करने वाला मैं ही हूँ।

अर्थात् मैं ही गंगादि पुण्य नदियाँ, गायत्री आदि पुण्य जप एवं प्रायश्चित्तादि समस्त शुद्धिकर (पवित्र करने वाले) कर्म हूँ। वेद्यम्—मैं ही वेदितव्य अर्थात् ज्ञातव्य (जानने योग्य) सर्वभूतात्मा परम ब्रह्म हूँ। आत्मा को ही वेद्य अथवा ज्ञातव्य इसलिए कहा गया है कि आत्मा को जानने से सब कुछ ही विदित हो जाता है। इसलिए श्रुति में कहा गया है—'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम् (बृह० उ० ४।५।६)"। इसलिए ही श्रुति में अन्य सब कर्मों का त्याग कर एकमात्र आत्मा को जानने के लिए ही उपदेश दिया गया है। यथा 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः।' (मुंडक० उ० २।२।५) अर्थात् अन्य सब वाक्य त्याग कर उस एक अद्वितीय आत्मा को ही जानो क्योंकि वह आत्मविज्ञान ही मोक्ष का सेतु (पुल) है। इस आत्मा को जानने से जानने योग्य और कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है (गीता ७।२)। अतः परब्रह्मस्वरूप आत्मा ही मनुष्य मात्र का चरम वेद्य वस्तु है।

ॐकारः—(मैं ही) परब्रह्म को जानने का साधन (उपाय) स्वरूप ॐकार (प्रणव) हूँ। ॐकार ही परब्रह्म का वाचक है (पातंजल यो० सू०)। ॐकार के चार पाद के ध्यान के द्वारा पर ब्रह्म प्रकाशित होते हैं। इसलिए श्रुति कहती है—

'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्' (मुंडक० उ० २।२।६) अर्थात् ॐकार को अवलम्बन करके ही आत्मा का ध्यान (चिन्तन) करो। अविद्यान्धकार शून्य स्वयं प्रकाश ब्रह्मस्वरूप आत्मा की प्राप्ति करने के लिए तुमलोगों का यह ॐकाररूप साधन विघ्नशून्य हो'। श्रुति तथा स्मृति शास्त्रों में ॐकार ही ब्रह्मप्राप्ति का मुख्य साधन है, यह असंख्यबार कहा गया है। यहाँ भी भगवान् कह रहे हैं कि 'यह ॐकार भी मैं ही हूँ'। ऋक् साम यजुः एव च-मैं ही (परमब्रह्म के प्रमाणरूप) ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुः वेद हूँ। जिस वेद में मन्त्रों के अक्षर संख्या तथा पद नियत (नियमबद्ध) हैं उसका नाम है 'ऋक्'। उन ऋक् में जो मन्त्र गीतिविशिष्ट (गानयुक्त) अर्थात् गाने के योग्य हैं उनका नाम है साम। और जो गीतिरहित है अर्थात् गाने के योग्य नहीं हैं एवं जिनके अक्षर संख्या अनियत (नियमबद्ध नहीं) होते हैं उनका नाम यजुः है। वेद के मन्त्रसकल ऋक्, साम तथा यजुः, इन तीनों भागों में विभक्त हैं एवं वैदिक समस्त यज्ञादि कर्मों में ही वे तीनों प्रकार के मंत्र उपयोगी होते हैं। वेद्य ब्रह्म वेद के उन मन्त्रों से ही जाना जाता है, इस लिए वेदान्त शास्त्र में (ब्रह्मसूत्र में) कहा गया है—"शास्त्रयोनित्वात्" अर्थात्

वेदादि शास्त्रों से ही अदृश्य, इन्द्रियातीत, ब्रह्मस्वरूप आत्मा का परिचय प्राप्त होता है। 'च' शब्द के द्वारा ऋक्, साम तथा यजुः से अतिरिक्त जो अथर्वांगिरस नामक चतुर्थ वेद हैं उसको समझाया जा रहा है। 'एव' शब्द का अवधारणार्थ में (निश्चयार्थ में) व्यवहार हुआ है अर्थात् मैं ही ऋक्, साम, यजुः तथा अथर्व—इन चारों वेद के रूपों में विद्यमान हूँ, ऐसा कहने के अभिप्राय से ही 'एव' शब्द व्यवहृत हुआ है।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—पिता अहम् अस्य जगतः इत्यादि—(इस जगत् का पिता, माता, पितामह मैं हूँ) तथा कर्मफल का विधाता भी मैं हूँ। मैं ही वेद्य (जानने योग्य तत्त्व) हूँ, मैं ही पवित्र (पवित्र अर्थात् शुद्ध करने वाला अथवा प्रायश्चित्तरूप) हूँ। मैं ही ॐकार (प्रणव) हूँ, तथा ऋक्, साम, यजुः वे वेद भी मैं ही हूँ।

(२) शंकरानन्द—किञ्च अस्य जगतः पिता अहम् एव—श्रुति में कहा है—'मायाशबलं ब्रह्म ब्रह्मणोऽव्यक्तमव्यक्तान्महान् महतोऽहंकारः अहंकारात्पञ्चतन्मात्राणि' [मायाशबल अर्थात् माया-उपाधिविशिष्ट ब्रह्म से अव्यक्त (प्रधान), अव्यक्त से महान् (महत्तत्त्व), महान् से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्राएँ।] इस श्रुति के अनुसार जगत् का अर्थात् आकाशादि प्रपञ्च का पिता (जनक) अर्थात् भूतसमूह का आदि मैं ही हूँ। माता धाता पितामहः अहम् एव-माता (अव्यक्त अर्थात् अपरा प्रकृति), धाता (पोषण करनेवाला), पितामह (अक्षर नामक मायोपहित ईश्वर) भी मैं ही हूँ। वेद्यम् अहम् एव-जो कुछ जानने योग्य अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषय है वे सब मैं ही हूँ। पवित्रम् अहम् एव—जगत में जो जो पवित्र (शोधक) वस्तु अर्थात् सूर्य, अग्नि, वायु, जल आदि हैं वे सब मैं ही हूँ। ओंकारः अहम् एव—पर तथा अवर ब्रह्म का वाचक शब्द ओंकार भी मैं ही हूँ। ऋक् साम यजुः एव च अहम्—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद (तथा चकार से अथर्ववेद, इतिहास, पुराण आदि भी) मैं ही हूँ।

(३) नारायणी टीका—१९ वें श्लोक की नारायणीटीका द्रष्टव्य।

[श्रीभगवान् अपने सर्वात्मकत्व का और भी विस्तार कर कह रहे हैं–]

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

अन्वय—गतिः, भर्ता, प्रभुः, साक्षी, निवासः, शरणम्, सुहृत्, प्रभवः, प्रलयः, स्थानम्, निधानम्, अव्ययम्, बीजम्।

अनुवाद—मैं ही गति (कर्मफल), भर्ता (पोषण करनेवाला), प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृत्, प्रभव, प्रलयस्थान, निधान तथा अव्यय बीज हूँ।

भाष्यदीपिका—गतिः च—कर्मफल। प्रकृति के विलय तक जीवों के कर्म के फल के रूप से जो गत है अर्थात् प्राप्त किया जाय उसे गति (कर्मफल) कहते हैं।

भर्ता—पोषक अर्थात् पोषण करनेवाला। जीवगण स्व स्व शुभ कर्मों के फल के द्वारा ही पुष्ट होते हैं अतः भर्त्ता अथवा पोषक का अर्थ है—'सुख का साधन जो शुभ कर्म है उनको देनेवाला'। प्रभुः—सबका स्वामी। 'यह मेरा है', ऐसा जो स्वीकार करते हैं उनको स्वामी कहा जाता है। भगवान् सभी के ही प्रभु अर्थात् स्वामी हैं। साक्षी—प्राणियों के शुभाशुभ कर्म को तथा अकृत कर्म को देखनेवाला मैं ही हूँ। निवासः—जिसमें प्राणिगण निवास करते हैं उसको निवास (वासस्थान अथवा भोगस्थान) कहा जाता है। भगवान् कार्य तथा कारणरूप प्रपंच के अधिष्ठान हैं इसलिए वे ही यथार्थ निवास हैं।

शरणम्—[जिनको आश्रय करने से सभी दुःख शीर्ण (नाश को प्राप्त) हो जाते हैं उनको शरण कहा जाता है।] इसलिए भगवान् कह रहे हैं कि 'मैं ही सर्वप्राणियों की शरण हूँ' अर्थात् जो आर्त्त (दुःखी) होकर मेरी शरण में (आश्रय) आये हुए हैं उनके आर्ति को (दुःख को) मैं हरण करता हूँ अर्थात् मेरे शरणागत सब दुःखियों का दुःख दूर करनेवाला मैं ही हूँ। सुहृत्—जो प्रत्युपकार की अपेक्षा न करके ही उपकार करनेवाले होते हैं उनको सुहृत् कहा जाता है। भगवान् ही सर्वप्राणी के सुहृत् हैं। प्रभवः—भगवान से जगत् का प्रभव अर्थात् उत्पत्ति होती है, भगवान् ही एकमात्र प्रभव (उत्पत्ति का कारण) हैं। प्रलयः—भगवान् में ही सर्वभूत अन्त में प्रकृष्टरूप से लय (विनाश) को प्राप्त होते हैं, इसलिए भगवान को प्रलय कहा जाता है। ['प्रलीयते यस्मिन् इति प्रलयः' अर्थात् जिसमें सब लीन हो जाते हैं वह प्रलय है। अथवा 'प्रकर्षेण लीयन्तेऽनेनेति प्रलयः संहर्ता' अर्थात् इसके द्वारा बलपूर्वक लीन होते हैं इस अर्थ में संहार करनेवालों को प्रलय कहते हैं (मधुसूदन, श्रीधर)] स्थानम्—(तिष्ठन्ति अस्मिन् इति स्थानम् अर्थात् भगवान् में ही विश्वप्रपंच स्थित रहता है, इसलिए भगवान सभी के स्थान (आधार) है। निधानम्—निः (निःशेषित रूप से) धानं (स्थापित होता है जहाँ) इस अर्थ में नि+धा+अन् प्रत्यय कर निधान शब्द हुआ है अर्थात् प्राणियों के कालान्तर में उपभोग करने योग्य कर्मफलसमूह जहाँ

निहित रहते हैं, उसको 'निधान' कहा जाता है। इसलिए भगवान् ही सर्व-प्राणियों के एकमात्र निधान हैं। **अव्ययं बीजम्**—अव्यय शब्द का अर्थ अविनाशी अर्थात् व्रीहि यवादि बीज के समान विनाशशील नहीं है परन्तु जबतक संसार रहेगा तबतक स्थायी रहेगा। और बीज शब्द का अर्थ प्ररोह धर्मशील वस्तुओं की (उत्पत्तिशील जगत की) उत्पत्ति का कारण। अतः 'अव्ययम् बीजम्' पद का अर्थ है—संसार का अनादि अनन्त कारण मैं (भगवान्) ही हूँ। जबतक संसार है तबतक संसार का बीज अर्थात् उत्पत्ति का कारण भी रहेगा क्योंकि बीज नहीं रहने से कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता है, और प्ररोह (उत्पत्ति) नित्य देखा जाता है। इसलिए संसार की बीज सन्तति का (अर्थात् बीज की परम्परा का) कभी भी नाश नहीं होता है। अतः संसार के बीज (नित्य उत्पत्तिकारण) भगवान भी अव्यय (अविनाशी) हैं।

टिप्पणी। (१) **श्रीधर—गतिः भर्ता प्रभुः साक्षी इत्यादि**—मैं ही गति हूँ [जो प्राप्त होता है अर्थात् जो फल है उसे गति कहा जाता है]। मैं भर्ता भी (पोषणकर्ता भी) हूँ तथा प्रभु (नियन्ता) भी हूँ। मैं सर्वकर्म का साक्षी (शुभाशुभकर्मों का द्रष्टा हूँ) एवं निवास (भोग का स्थान) तथा शरण (रक्षक) भी हूँ। मैं (सर्वप्राणी का) सुहृत् (हितकर्ता) हूँ तथा प्रभव (जिससे भलीभाँति उत्पन्न हो वह स्रष्टा), एवं प्रलय (जिसमें सब लय हो वह संहारकर्ता) हूँ। मैं ही स्थान (जिसमें सब कुछ स्थित रहें वह आधार) तथा निधान (जिसमें स्थापित हो सके वह लय का स्थान) हूँ। सर्वभूतों का बीज (कारण) भी मैं ही हूँ—वह बीज अव्यय (अविनाशी) नश्वर (विनाशशील) बीज नहीं हूँ।

(२) **शंकरानन्द—किञ्च गतिः भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्**—'गम्यते (प्राणते) कर्मणा इति गतिः' (कर्म से जो प्राप्त की जाती है, वह गति है) अर्थात् स्वर्ग आदि कर्मफल, वह मैं ही हूँ। प्रभु (जगत् का नियन्ता) तथा समस्त प्राणी जो कुछ भी कर्म करते हैं उनका साक्षी (श्रुति में कहे गये आदित्य, चन्द्र, वायु और अग्नि) मैं ही हूँ। समस्त भूत जिसमें बास करते हैं वह निवास (भूतों की धात्री) मैं ही हूँ। आर्तों (दुखियों) का शरण (सर्व दुःख को नाश करने वाला) मैं ही हूँ। सुहृत अर्थात् दया से प्राणियों के उपकार करने वाले चन्द्र, पर्जन्य (बादल) अथवा वायु भी मैं ही हूँ। **प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजम् अव्ययम्**—जिससे सब की उत्पत्ति होती है वह प्रभव है। वह प्रभव अर्थात् समस्त जगत् की सृष्टि का जो कारण वह भी

मैं ही हूँ। तथा प्रलय अर्थात् सबका पूर्णरूप से लय जिसमें होता है अर्थात् समस्त जगत् का संहार करने वाला मैं ही हूँ। स्थान शब्द गर्भित निजन्त है। अतः नाश की दशा प्राप्त हुए सब को जो स्थापन करता है वह स्थान (स्थिति का कारण) भी मैं ही हूँ। निधान भी (अर्थात् जिसमें सब रखा जाता है अर्थात् कार्य कारणरूप प्रपञ्च का अधिष्ठान भी) मैं ही हूँ। ज्ञान के विना अन्य किसी से जिसका नाश नहीं होता वह अव्यय बीज (जगत् का नाश रहित अव्याकृत नामक बीज) भी मैं ही हूँ।

(३) नारायणी टीका—१९ वें श्लोक की नारायणी टीका द्रष्टव्य।

[और भी श्रवण करो—]

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

अन्वय—अहं तपामि, अहं वर्षम् निगृह्णामि अहम् उत्सृजामि च अहम् अमृतम् मृत्युः च हे अर्जुन अहम् सत् असत च।

अनुवाद—मैं सूर्य रूप से ताप देता हूँ मैं ही पूर्व वृष्टि रूप से बरसे हुए जल का (आदित्य रूप से आठ महीने तक रश्मि के द्वारा) पृथिवी से आकर्षण करता हूँ और मैं ही (वर्षाकाल में) उसे उत्सर्ग (त्याग) करता हूँ अर्थात् बरसाता हूँ। मैं ही अमृत तथा मृत्यु हूँ। अर्जुन ! मैं ही सत् तथा असत् भी हूँ।

भाष्यदीपिका—अहं तपामि—मैं ही आदित्य सूर्य होकर अपनी कुछ प्रखर (तीव्र) रश्मियों से जगत् को तपाता हूँ। और उस उत्ताप के प्रभाव से आठ महीनों में कुछ रश्मियों के द्वारा अहं वर्षम् निगृह्णामि—मैं ही वर्षा का (अर्थात् पहले वृष्टि के रूप से बरसे हुए) जलको पृथ्वी से निग्रह अर्थात् आकर्षण करता रहता हूँ (ऊपर में खींच लेता हूँ)। पुनः ऊपर में उठे हुए उस जलको वर्षाकाल आने पर चार महीने तक कुछ किरणों से जगत् में अहं उत्सृजामि च—मैं ही वर्षा के रूप से परित्याग करता हूँ (बरसा देता हूँ) 'च' शब्द का अभिप्राय यह है कि मैं ही वर्षा के रूप से जल विसर्जन कर पुनः उस जलराशि को आठ महीनों में शोषण कर लेता हूँ एवं वर्षाकाल में पुनः उसी जलको चार महीने तक वर्षण करता हूँ (पृथ्वीपर छोड़ देता हूँ)। अहम् अमृतम् मृत्युः च—मैं ही देवों का अमृत अर्थात् मृत्युहीन अवस्था हूँ [देवताएँ भी कल्पान्त में नाश प्राप्त होते हैं, अतः उनकी अमृत अथवा अमर अवस्था आपेक्षिक है अर्थात् मरणशील जीव की अपेक्षा से अतिदीर्घकाल

तक वे लोग जीवित रहते हैं, इसलिए उन लोगों को अमृत अथवा अमर कहा जाता है।] फिर मैं ही मर्त्य (मरणशील) जीवों की मृत्यु हूँ। [मधुसूदन सरस्वती दूसरे प्रकार से भी इसका अर्थ किये हैं अमृत—सकल जीवों के जीवन मृत्यु—जीवों का विनाश]। अमरत्व तथा मृत्यु ये विरुद्ध जो मुझमें ही एकसाथ वर्तमान हैं यह समझाने लिए 'च' शब्द का व्यवहार हुआ है।] हे अर्जुन—हे शुद्धबुद्धे। जिन मनुष्यों की बुद्धि मलिन है वे लोग यह धारण नहीं कर सकते हैं कि मैं ही अनेक प्रकारके विरुद्ध धर्मसम्पन्न होकर सर्वरूप में विद्यमान हूँ। किन्तु तुम तो शुद्धबुद्धि हो अतः तुम अनायास ही इस तत्त्व को समझ जाओगे, इसलिए मैं इसे विस्तार पूर्वक वर्णन कर रहा हूँ। इसे कहने के अभिप्राय से भगवान 'अर्जुन' कहकर यहाँ सम्बोधन किये हैं। अहम् सत् असत् च—मैं ही सत् हूँ तथा मैं ही असत् हूँ जिसके सम्बन्धी रूप से जो वस्तु विद्यमान है वह वहाँ 'सत्' कही जाती है और जिसके सम्बन्धीरूप से जो वस्तु नहीं है वह वहाँ असत् कही जाती है अर्थात् यदि किसी कारण के साथ सम्बन्धि विशिष्ट होकर कोई कार्य विद्यमान रहे (अभिव्यक्त हो) तो उस कार्य को सत्—कहा जाता है और इसके विपरीत को असत् कहा जाता है अर्थात् कार्य यदि कारण के सम्बन्धी रूप से अभिव्यक्त (प्रकाशित) नहीं रहता है तो उस कार्य को असत्—कहा जाता है जैसे इन्द्रजाल गन्धर्व नगर इत्यादि भगवान् स्वयं कभी भी असत् नहीं हो सकते हैं क्योंकि तब तो जगत का कार्य तथा कारण दोनों ही निरधिष्ठान होंगे अर्थात् भगवान्‌रूप अधिष्ठान का अभाव होने के कारण कार्य तथा कारण का कोई स्फुरण होना सम्भव नहीं होगा। अतः कहने का अभिप्राय यह है कि अभिव्यक्ति रूप से भी मैं (भगवान्) ही हूँ तथा कार्य की अनभिव्यक्ति के रूप से भी मैं हूँ। अथवा सत्—शब्द का अर्थ कार्य तथा असत्—शब्द का अर्थ कारण है अतः जगत् का कार्य तथा कारण दोनों रूप से एक ही भगवान् विराजमान हैं, यह कह रहे हैं। [श्लोक में 'एव' का सम्बन्ध 'अहम्' से है भगवान् के कहने का तात्पर्य यह है कि जब ये सब मैं ही हूँ तव सर्वात्मा मुझको जानकर अपने अपने अधिकार के अनुसार अनेकों प्रकार से मेरी ही उपासना करो (मधुसूदन)। इस प्रकार विश्वतोमुख (विश्वरूप) मुझको जो भजन करते हैं उनको सर्वरूप से मैं अनुग्रह करता हूँ (नीलकंठ)]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—हे अर्जुन अहम् तपामि अहम् वर्षम् इत्यादि—सूर्यरूप से स्थित रहकर मैं ग्रीष्मकाल में तपता हूँ (जगत् का ताप सृष्टि करता हूँ)। वर्षाकाल में मैं ही वर्षा (जलधारा) उत्सर्ग (विशेष

भाव से मोचन) करता हूँ अर्थात् वर्षा के जल को छोड़ देता हूँ। फिर कभी-कभी वर्षा का निग्रह (आकर्षण) कर लेता हूँ। अमृतम् च एव मृत्युः च—मैं ही (प्राणियों के) अमृत (जीवन) तथा मृत्यु (नाश) हूँ। अहम् सत् असत् च—सत् (स्थूल जो प्रत्यक्ष दीखता है) और असत् (जो सूक्ष्म होने के कारण दृश्य नहीं होता है वह) भी मैं ही हूँ 'यह सब मैं ही हूँ' इस प्रकार मानकर मेरे भक्तजन मेरी अनेक प्रकार से उपासना करते है इस प्रकार पूर्व श्लोक में उल्लिखित 'उपासते' पद को यहाँ ले आकर अन्वय करना होगा।

(२) शंकरानन्द—किञ्च अहम् तपामि अहम् निगृह्णामि उत्सृजामि च—(हे अर्जुन) आदित्यरूप से वसन्त और ग्रीष्म ऋतुयों में जगत् को तपाने की क्रिया करता हूँ अर्थात् समस्त जगत् को तपाता हूँ। कार्तिक आदि आठ महीनों में वर्षा निग्रह करता हूँ (रोकता हूँ)। और वर्षा में चार महीने मैं वर्षा को उत्सर्ग करता हूँ (वर्षा करता हूँ) 'च' कार शब्द का तात्पर्य यह है कि अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि से सुभिक्ष (उत्तम फसल) एवं दुर्भिक्ष (फसल का अभाव) मैं ही करता हूँ। अमृतम् च मृत्युः च अहम् एव—जिससे देवता लोग नहीं मरते हैं वह अमृत तथा जिससे प्राणी मरते हैं, वह मृत्यु है वे दोनों ही मैं हूँ। सत् असत् च अहम् एव—'यह है' इस प्रकार जो पदार्थ का नाम और रूप से निर्देश किया जाता है, वह नामरूपात्मक व्यक्त कार्य सत् है। उससे विलक्षण जो नामरूप का कारण अव्यक्त है उसे असत् कहा जाता है वे दोनों सत् और असत् मैं ही हूँ। 'च' कार शब्द से यह सूचित किया जा रहा है कि उन दोनों सत् और असत् का (व्यक्त और अव्यक्त का) निषेध करने पर उनके निषेध के अवधिरूप से (अन्त में) कार्य कारण भाव से शून्य जो निर्विषय निर्विशेष परम वस्तु स्थित रहती है वह मैं ही हूँ। इससे यह सूचित होता है कि क्रतु यज्ञ आदि से लेकर सत्-असत् पर्यन्त सम्पूर्ण वस्तु ब्रह्मस्वरूप ही हैं। इसलिये मुमुक्षु ब्रह्मबुद्धि से जिस जिस वस्तु की उपासना करते हैं, उस उस रूप से ब्रह्म ही उपास्य है, अतः मुमुक्षु के चित्त की शुद्धि और क्रमशः मोक्षकी सिद्धि भी हो जाती है।

प्रश्न—किन्तु अब्रह्म में ब्रह्मबुद्धि से की गई उपासना किस प्रकार से मोक्षरूप फलसिद्धि की हेतु होगी और ब्रह्म दृश्य कैसे होगा ?

उत्तर—तुमसे इस विषय में प्रश्न करूंगा कि दृश्य नामक कोई वस्तु है या नहीं है ? दूसरा पक्ष (दृश्य है नहीं) तो युक्त नहीं है क्योंकि तब तो समस्त व्यवहार के लोप का प्रसंग आ जायगा। और पहले पक्ष में (दृश्य वस्तु

है इस पक्ष में) यह निश्चय करना पड़ेगा कि दृश्य वस्तु क्या सद्रूप से है या असद् रूप से है ? द्वितीय पक्ष युक्त नहीं है क्योंकि खरगोश के सींगों के समान जो वस्तु असत् है। वह है ऐसा निर्देश करना सम्भव नहीं। और यदि कहो कि दृश्य वस्तु सत्‌रूप से ही है, तो वह भी युक्त नहीं है क्योंकि उस प्रकार मानने से तो सब ब्रह्म ही होगा क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त (पृथक्) कोई वस्तु का अस्तित्व है नहीं।

प्रश्न—यदि सब ही ब्रह्मस्वरूप हैं तो घट पट आदि के नाश होने पर ब्रह्म के भी नाश का प्रसंग उपस्थित होगा।

उत्तर—इस प्रकार की शंका युक्त नहीं है जिनके नाश दिखाई पड़ते हैं वे सब भ्रम से कल्पित हैं एवं ब्रह्म के वे सब व्याप्यांश हैं। जिस प्रकार दण्ड आदि से कल्पित कम्बुग्रीवा आदि आकार वाले घटरूप व्याप्यांश का ही नाश देखने में आता है, व्यापक अंश मिट्टी का नाश देखने में नहीं आता, वैसे ही भ्रम से कल्पित नाम रूपादि व्याप्य अंश का ही नाश होता है व्यापक अंश सत् का नाश नहीं होता है क्योंकि उस (ज्ञानस्वरूप सर्व प्रकाशक एवं सर्व द्रष्टा) ब्रह्म का नाश होने पर दृश्य का अभाव तथा तथा भाव (अर्थात् दृश्य है या नहीं) इन दोनों के अभाव का प्रसंग होगा [प्रकाशक न रहने पर प्रकाश्य (दृश्य) का अस्तित्व या अभाव का अनुभव कौन करेगा ? यही का अभिप्राय है]। अतः सब ब्रह्म ही है यह सिद्ध हुआ इसलिये ब्रह्मबुद्धि से कोई भी इष्टवस्तु में की गई उपासना फलप्रद होती ही है क्योंकि जिस प्रकार की भावना के साथ उपासना की जाय उसी के अनुसार फल की सिद्धि होती है।

(३) **नारायणी टीका**—(१६-१९) श्लोकों का तात्पर्य) गीता में अन्यत्र कहा गया है कि जिनकी ब्राह्मीस्थिति होने के कारण आत्मा में ही रति, आत्मा में ही तृप्ति एवं आत्मा में ही संतुष्टि रहती हैं उनका कोई कार्य शेष नहीं रहता है (गीता) अतः उनके लिये उपासना का भी कोई प्रयोजन नहीं रहता है। इसप्रकार पुरुष जीवन्मुक्त है। जो मुमुक्षु इस अवस्था को प्राप्त नहीं कर सका उसके लिये उपासना की आवश्यकता है क्योंकि भगवान् की उपासना ही चित्तशुद्धि का प्रधान उपाय है और चित्तशुद्धि न होने पर जीवात्मा और परमात्मा के एकत्वज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव कभी सम्भव नहीं होता। शास्त्र में भी कहा है—'विद्या तपः प्राणनिरोधमैत्रीतीर्थाभिषेक-व्रतदानजाप्यैः। नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते' अर्थात् भगवान् को हृदय में सदा धारण करने से जिसप्रकार शीघ्र चित्तशुद्धि प्राप्त होती है उसप्रकार चित्तशुद्धि विद्या, तपस्या, प्राणवायु का निरोध, प्राणिओं के

प्रति मैत्री, तीर्थयात्रा, अभिषेक, व्रत, दान, जप इत्यादि से नहीं होती है। भगवान् की उपासना भक्तलोग अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार नाना प्रकार के ज्ञानयज्ञ से करते हैं, यह १५ वें श्लोक की टीका में स्पष्ट किया गया है। उन उपासकों में (१) जो उत्तमाधिकारी है वह 'अहंग्रहोपासना' अर्थात् मैं और मेरा इष्ट (अखण्डाद्वय परब्रह्मरूपी श्रीकृष्ण) अभिन्न हैं इसप्रकार की भावना से उपासना करते हैं, (२) जो मध्यमाधिकारी है वे नामरूपात्मक जगत् की कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है—एकमात्र परब्रह्म श्रीकृष्ण ही सर्वत्र विराजमान है, और मैं उनका उपासक हूँ, इसप्रकार उपास्य—उपासक में भेदबुद्धि रखकर उपासना करते हैं, (३) जो निम्नाधिकारी है वह नामरूपको बिलकुल मिथ्या मानने में असमर्थ होते हैं किन्तु सर्व नामरूप तथा क्रियारूप में एकमात्र भगवान् ही नाटक कर रहे हैं, इसप्रकार निश्चयात्मिकाबुद्धि से विश्वरूप भगवान् की उपासना करते हैं। १६ वें श्लोक से १९ वें श्लोक तक इस विश्वरूप की विविध प्रकार से किस प्रकार उपासना होती है यह विस्तार पूर्वक वर्णित किया गया है। मुझ अधिष्ठान सत्ता के बिना जगत् की कोई वस्तु की सत्ता नहीं है अर्थात् मुझको ही अज्ञान से सभी लोग नामरूपक्रियात्मक जगत् रूप से देख रहे हैं। अतः मेरे बिना कुछ नहीं है—कर्ता, कर्म, कारण, सम्प्रदाय, अपादान तथा अधिकरण ये सब मैं ही हूँ। अतः विश्व का रूप मुझमें अध्यस्त होने के कारण मैं ही विश्वतोमुख या विश्वरूप हूँ। इसप्रकार ज्ञानदृष्टि से देखा जाय तो यज्ञादि का उपकरण मैं ही हूँ अर्थात् श्रुतिविहित अग्निष्टोमादि क्रतु, स्मृतिविहित वैश्वदेवादि यज्ञ, पितर लोगों के लिये जिससे अन्न दिया जाता है वह स्वधा, सर्व प्राणियों के खाद्य व्रीहियवादि अन्न अथवा औषधि (यज्ञादि में भी जिनकी आहुति दी जाती है), जिन मन्त्रों से देवता के उद्देश्य में हवि इत्यादि का प्रदान किया जाता है, वे वेदोक्त मन्त्र तथा आज्य (घृत) एवं जिसमें हवन किया जाता है वह आहवनीयादि अग्नि एवं हवनरूप क्रिया (प्रक्षेप आदि होमरूप कर्म) भी मैं ही हूँ। इसलिये जब मैं ही सब हूँ तब मुझ विश्वतोमुख को (अर्थात् मुझको विश्वरूप से) उपासना युक्ततर ही है (गीता ९।१५–१६)।

मैं (परमब्रह्म) ही मिथ्या जगत् का एकमात्र नित्य, सत्य अधिष्ठान सत्ता हूँ, इसलिये कल्पित—सृष्टि आदि व्यापारों में मुझको जगत् का अभिन्न निमित्त–उपादान कारण कहा जाता है। अतः मैं जगत् का पिता हूँ। फिर मैं ही माता के समान सदा परिवर्तनशील जगत्—चित्त को क्रोड़ में (गोद में) धारण कर रखता हूँ, अतः मैं इसकी माता भी हूँ। पुनः मुझको आश्रय करके

ही मायारचित विश्वप्रपञ्च की पुष्टि हो रही है एवं सर्वकर्म नियम के अनुसार फलों को प्रदान कर रहे हैं, अतः मैं धाता (पोषयिता अथवा सभी कर्मों के फलों के विधाता) हूँ। मायिक जगत् की सृष्टि का कर्ता हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा का कार्य भी मुझ शुद्धचैतन्यस्वरूप अधिष्ठान का आश्रय करके ही होता है अर्थात् मायिक जगत के पिता ब्रह्मा भी मेरी सत्ता से सत्तावान् तथा मेरे प्रकाश से प्रकाशित होकर कार्य कर रहे हैं अतः मैं ब्रह्मा का भी पिता होने के कारण जगत् का मैं पितामह हूँ। मुझसे अतिरिक्त अन्य सभी माया से रचित होने के कारण वे सब मिथ्या हैं, अतः मैं ही एकमात्र सत्य तथा नित्य होने के कारण एकमात्र वेद्य (ज्ञातव्य–जानने योग्य वस्तु) हूँ। श्रुति भी इसलिये कहती है—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञातं इदं सर्वं विदितम्' अर्थात् हे प्रिये मैत्रेयि, आत्मा ही एकमात्र द्रष्टव्य (अनुभव करने के योग्य), श्रोतव्य (श्रवण के योग्य), मन्तव्य (मनन करने के योग्य), निदिध्यासितव्य (निश्चित रूप से ध्यान करने के योग्य) वस्तु है क्योंकि आत्मा का साक्षात् अनुभव होने से अर्थात् आचार्य तथा वेदादि शास्त्रों से आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में श्रवण कर तत्पश्चात् युक्ति द्वारा मनन (विचार) करके उस आत्मा को विशेषरूप से जान लेने से (अपरोक्ष साक्षात्कार करने से) यह विश्वप्रपञ्च के सभी यथार्थतत्त्व विदित (ज्ञात) हो जाते हैं। चलचित्र (Cinema) के समस्त दृश्य जिस प्रकार श्वेतवस्त्रखण्ड के (White screen) के बिना और कुछ नहीं है, उसी प्रकार गंगा, गायत्री आदि जप समूह तथा अन्यान्य पवित्र करनेवाले जो कुछ है वे मैं ही हूँ एवं उसी कारण से ब्रह्मज्ञान के सबसे श्रेष्ठ उपायस्वरूप ॐकार (प्रणव) तथा वह ॐकार जिनके सार हैं वे (नियताक्षरपादविशिष्ट) ऋग्वेद, (गीतिविशिष्ट) सामवेद, (गीतिरहित अनियताक्षरपादविशिष्ट) यजुर्वेद तथा ('च' कार शब्द से) अथर्वाङ्गिरस अर्थात् अथर्ववेद भी मैं ही हूँ (९।१७)

जगत् का प्रत्येक प्राणी ही अपने अपने कर्मों के फलानुसार संसार में उच्च-नीच गति को प्राप्त करते हैं अतः कर्मफल ही गति है और मैं ही कर्मफलरूप से विद्यमान हूँ अथवा जो जो कुछ कर रहा है वह आनन्द की प्राप्ति के लिये ही कर रहा है अर्थात् मुझ आनन्दस्वरूप के पास पहुँचने के लिये जानकर और नहीं तो अनजान से कर्म कर रहा है, अतः मैं ही सबकी चरम गति हूँ। कर्म तथा कर्मफल के भर्ता (पोषयिता अथवा प्रदान करनेवाला) भी मैं हूँ तथा सबका प्रभु (नियन्ता या अन्तर्यामी अर्थात् सबकी बुद्धि के नचानेवाला) भी मैं ही हूँ। मैं ही एकमात्र चैतन्यसत्ता हूँ, अतः सबके शुभाशुभ

कर्मों के साक्षी (द्रष्टा) मैं ही हूँ तथा कार्यकारणरूप प्रपञ्च का अधिष्ठान होने के कारण सबके निवास अर्थात् भोगस्थान भी मैं हूँ। संसारदुःख से मुक्त होने के लिये जो मेरा आश्रय लेते हैं उनके सर्व दुःखों को मैं हरण कर लेता हूँ, अतः मैं सबका शरण हूँ [मेरे शरणागत भक्तों के समस्त दुःख शीर्ण (नष्ट) हो जाते हैं इसलिये मैं शरण हूँ।] फिर मैं किसी के प्रत्युपकार की अपेक्षा न कर सबका उपकार करता हूँ इस कारण मैं सर्व-भूतों का सुहृत् हूँ। मृत्तिका ही घट शराव आदि रूप से प्रतीत होती है—घट शराव आदि की मृत्तिका से अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है अर्थात् मृत्तिका ही घट आदि का प्रभव (उत्पत्ति स्थान), प्रलय (विनाश या लयस्थान) एवं स्थान (स्थिति स्थान) है, उसी प्रकार मैं भी समस्त जगत् का अधिष्ठान रूप से उपादान कारण होने के कारण उसका सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का स्थान मैं ही हूँ। प्रलय में समस्त जीव सूक्ष्म बीज भाव से मुझमें निहित (स्थित) रहते हैं इसलिये मैं निधान हूँ [समस्त जीवों के कर्म संस्कारको जिसमें नि (निःशेषतया अर्थात् पूर्ण रूप से) धा (स्थापन किया जाता है) इस अर्थ में नि+धा+अनट् प्रत्यय करके निधान शब्द सिद्ध हुआ है।] और मैं ही कालान्तर में जगत् सृष्टि रूप फल प्रसव करने के योग्य अव्यय (अविनाशी) बीज हूँ क्योंकि जब तक ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति नहीं होती है तब तक वृक्ष के बीज से जिस प्रकार अंकुर (तथा वृक्ष) होता है एवं उससे फिर बीज की सृष्टि होती है उसी प्रकार (बीजांकुर वत्) कर्मफल से संसार की उत्पत्ति एवं संसार के कर्मों से पुनः कर्मफल रूप बीज की उत्पत्ति होती रहती है। अतः अज्ञानी जीव के लिये वह बीज अनादि, अव्यय तथा अनन्त है—मैं ही वह अव्यय (अविनाशी) बीज हूँ (गीता ९।१८)।

मैं ही सूर्य होकर (ग्रीष्म ऋतु में) सबको तपाता हूँ एवं उस ताप से पृथिवी से आठ महीने तक पूर्व पतित (बरसा हुआ) जल को (रस को) आकर्षण करता हूँ (जल का शोषण करता रहता हूँ) एवं (वर्षाकाल में) चार महीने तक फिर बरसा देता हूँ। फिर मैं ही अमृत (सर्वप्राणी का जीवन अथवा मोक्षरूप अमृत) हूँ और मैं ही मृत्यु अर्थात् सब प्राणिओं का विनाश हूँ। मैं ही सत् (व्यक्त या कार्य) तथा असत् (अव्यक्त या कारण) हूँ [अथवा यह जगत् स्वरूपतः असत् (मिथ्या) होने पर भी जब तक सत् रूप से यह प्रतीत होता है किन्तु अतीत तथा अनागत (भविष्य) काल के सम्बन्ध से यह असत् है—वे सत् तथा असत्—दोनों ही मैं हूँ। अथवा दृश्यप्रपञ्च की अधिष्ठान सत्ता जो आत्मा है, उस रूप से मैं सत् हूँ

किन्तु मेरी माया के विलास स्वरूप यह अनित्य जगत् असत् है ।] अतः विश्व के सभी विरुद्ध धर्म मुझ अद्वितीय परामात्मा की ही लीला के छन्द होने के कारण मेरे लिये सर्वरूप से विद्यमान रहना युक्त ही है । अतः विश्वतो मुख मेरी उपासना जो भक्तलोग श्रद्धापूर्वक करते हैं, वे सर्व प्रकार से मेरा अनुग्रह प्राप्त करेंगे, इस विषय में संशय क्या रह सकता है ? (गीता९।१९)

[इस प्रकार उपास्य-उपासक में अभेदबुद्धि से अथवा भेदबुद्धि से अथवा विश्वतोमुख भगवान को अनेक प्रकार से अर्थात् इन तीनों प्रकार से निष्काम होकर भगवान की उपासना करनेवाले पुरुष अन्तःकरण की शुद्धि एवं तदनन्तर ज्ञान की उत्पत्ति के द्वारा क्रम से मुक्त हो जाते हैं किन्तु जो सकाम होने के कारण किसी भी प्रकार से भगवान् की उपासना नहीं करते बल्कि अपनी अपनी कामनाओं को पूर्ण करनेवाले काम्य कर्म ही करते हैं उनके अन्तःकरण की शुद्धि करनेवाला कोई साधन न होने से वे ज्ञान के साधनपर आरूढ न होकर बार-बार जन्ममरण के प्रवाह में पड़कर सर्वदा संसार के दुःखों का ही अनुभव करते रहते हैं-यह बात अब दो श्लोकों से कहते हैं—]

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति
दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥

अन्वय—त्रैविद्याः यज्ञैः माम् इष्ट्वा सोमपाः पूतपापाः स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते, ते पुण्यं सुरेन्द्रलोकम् आसाद्य दिवि दिव्यान् देवभोगान् अश्नन्ति ।

अनुवाद—ऋक्, साम, तथा यजुः तीनों वेदों को जाननेवाले अग्निष्टोमादि अनेक प्रकार के यज्ञ के द्वारा मेरी (वसु आदि देव के रूप में) पूजा कर सोमपान करके पापमुक्त होकर स्वर्गलोक की गति (स्वर्गप्राप्ति) के लिए प्रार्थना करते हैं । वे लोग अपने पुण्य कर्म के फलस्वरूप सुरेन्द्रलोक (इन्द्रपद) प्राप्त होकर स्वर्ग में देवताओं के योग्य भोगों को उपभोग करते हैं (भोगते हैं) ।

भाष्यदीपिका—त्रैविद्याः—जो ऋक्, साम तथा यजुः—इन तीन वेदों को जानते हैं उनको त्रैविद्य अर्थात् वेदत्रयवित् याज्ञिक कहा जाता है । अथवा हौत्र (होतृसाध्य), आध्वर्यव (अध्वर्यु के द्वारा सम्पाद्य) एवं औद्गात्र

(उद्गाता के द्वारा अनुष्ठेय) इन त्रिविध कर्मों के ज्ञान के हेतुभूत ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदरूपा तीन विद्याएँ जिन्हें प्राप्त हैं वे 'त्रिविद्याः' हैं, इस 'त्रिविद्याः' शब्द के साथ स्वार्थ में तद्धित (अण्) प्रत्यय कर 'त्रैविद्याः' पद निष्पन्न होता है। अभिप्राय यह है कि वैदिक यज्ञकर्मों में चार ऋत्विकें प्रधान हैं एवं एक एक ऋत्विक् का जो करणीय है वह एक एक वेद में उपदिष्ट हुआ है. यथा (१) होता—देवताओं का आवाहन करते हैं। ऋग्वेद में हौत्र कर्म अर्थात् होता नामक ऋत्विक का कर्त्तव्य कर्म तथा उनके द्वारा पाठ्यमंत्र प्रधान रूप से उपदिष्ट हुआ है; (२) अध्वर्यु—प्रधान ऋत्विक हैं, क्योंकि वे यज्ञ में अनुष्ठेय आहुति आदि सभी कर्म का सम्पादन करते हैं। अध्वर्यु नामक ऋत्विक का जो जो कर्म हैं एवं जो जो मंत्र पाठ्य हैं उनके सम्बन्ध में यजुर्वेद में उपदेश दिया गया है, (३) उद्गाता—यज्ञ के समय में सामगान करते हैं। सामवेद में उद्गाता का कर्म तथा उसके द्वारा पाठ्य मंत्रसकल उपदिष्ट हुए हैं, एवं (४) ब्रह्मा—उक्त तीन ऋत्विजों के कर्मों में जो जो त्रुटि-विच्युति होती है उनका संशोधन करते हैं। अतः ब्रह्मा के लिये तीनों वेदों में समान ज्ञान रहना आवश्यक है। अतः मंत्रब्राह्मणात्मक ऋक्, यजुः तथा साम इन तीनों वेदों के कर्मकांडीय याग-यज्ञादि के सम्बन्ध में हौत्र, आध्वर्यव एवं औद्गात्र—इन त्रिविध कर्मों की विद्याएँ जिन याज्ञिकों की हैं वे 'त्रैविद्य' हैं।]

यज्ञैः माम् इष्ट्वा—अग्निष्टोमादि यज्ञ के द्वारा मुझको [प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन तथा तृतीय सवन-इन त्रिसवनों में मेरी (परमेश्वर की)] यथाक्रम से वसु, रुद्र तथा आदित्य के रूप से पूजा करके अर्थात् अभिषेक द्वारा (सोमलता का रस निष्कासन कर शास्त्र के विशेष विशेष अनुष्ठान के साथ उस सोमरस की अग्नि में आहुति (होम) प्रभृति के द्वारा) तीनों सवनों में वसु, रुद्र तथा आदित्य के रूप से मेरी पूजा करके (उस रूप में मुझे स्थित न जानकर भी पूजन, अभिषव तथा हवन करके—मधुसूदन) **सोमपाः**—जो सोमपान करते हैं एवं उससे **पूतपापाः**—शुद्धकिल्बिष (निरस्तपाप) होकर अर्थात् उनके स्वर्गभोग के प्रतिबन्धकरूप जो पाप थे वे यज्ञादि से एवं सोम-पान से दूरीभूत (नष्ट) हो जाने के कारण वे निष्पाप होकर **स्वर्गतिम् प्रार्थयन्ते**—स्वर्ग में गमन (स्वर्गप्राप्ति) करने के लिये प्रार्थना करते हैं (क्योंकि वे लोग सकामरूप से ही अर्थात् विषयसुख की कामना करके ही यज्ञादि के द्वारा मेरी पूजा करते हैं अर्थात् वे मोक्षार्थी होकर चित्तशुद्धि अथवा ज्ञानोत्पत्ति के लिए शास्त्रविहित यागयज्ञादि कर्म नहीं करते हैं)। अतः इस

प्रकार सकाम अनुष्ठान से ते—वे पुण्यम् सुरेन्द्रलोकम् आसाद्य—अपने पुण्य के फलस्वरूप सर्वोत्कृष्ट सुरेन्द्रलोक अर्थात् देवताओं के राजा इन्द्र के (शतक्रतु के) स्थान को प्राप्त करके (इन्द्र शत अश्वमेधयज्ञ कर इन्द्रत्व पद प्राप्त किये थे इसलिए इन्द्र का अपर नाम शतक्रतु है)। दिव्यान्—दिवि (स्वर्ग में) प्राप्त होनेवाले (किन्तु मनुष्यों के लिये अलभ्य) देवभोगान्—देवताओं के भोगों को (देवताओं के शरीर से भोगने योग्य भोगों को (विषयों को)] अश्नन्ति–भोगते हैं अर्थात् देवताओं के जो स्वर्ग में होनेवाले अप्राकृत भोग हैं उनको भोगते हैं।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—इस प्रकार भगवान् ने 'अवजानन्ति मां मूढाः' इत्यादि दो श्लोकों से जो अभक्तलोग शीघ्र फल की कामना से अन्य देवता का भजन करते हुए भगवान का आदर नहीं करते उनका प्रदर्शन किया। फिर 'महात्मनस्तु मां पार्थ' इत्यादि श्लोकों द्वारा भक्तलोग किस प्रकार से भगवान का भजन करते हैं उसका वर्णन किया। उनमें से जो एकत्व बुद्धि से परमेश्वर श्रीवासुदेव का भजन करते हैं, उनके जन्म-मृत्यु का प्रवाह अनिवार्य है, यह 'त्रैविद्या माम्' इत्यादि दो श्लोकों से कहते हैं—त्रैविद्या मां सोमपाः······प्रार्थयन्ते—तीनों वेद अर्थात् ऋक्, साम तथा यजुः जिनकी विद्या है वे त्रिविद्य है। त्रिविद्य ही त्रैविद्य है स्वार्थ में तद्धित 'अण्' प्रत्यय है।] अथवा तीनों विद्याओं का जो अध्ययन करते हैं या उनको जानते हैं वे 'त्रैविद्य' हैं ['तदधीते तद्वेद' (पा० सू० ४।२।५९) इस सूत्र के अनुसार स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय का त्रैविद्य पद सिद्ध हुआ है।] अतः तातपर्य यह है कि जो तीनों वेदों में विहित यज्ञादि कर्म करने में तत्पर (पारदर्शी अर्थात् कुशली) हैं वे 'त्रैविद्य' हैं। वे त्रैविद्यलोग वेदत्रय विहित यज्ञादि द्वारा मेरा भजन कर के अन्य देवता भी मेरे ही (परमेश्वर के ही) स्वरूप है, इस रहस्य को न जानते हुए भी वस्तुतः इन्द्रादि देवता रूप से मेरा ही सम्यक् प्रकार से पूजन कर के 'सोमपा' अर्थात् यज्ञ में बचे हुए सोमरस का पान करते हैं एवं उसी से पूतपापा होकर (समस्त पापों से मुक्त होकर शुद्ध होकर) स्वर्ग के प्रति गति को प्राप्त करने के लिये प्रार्थना करते हैं। उसके फलरूप से ते पुण्यम् आसाद्य इत्यादि—वे पुण्यफल से प्राप्त होने वाले इन्द्र के स्वर्ग लोक को पाकर वहाँ दिव्य अर्थात् उत्तम देवों के भोगों को भोगते हैं।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार मन्दबुद्धिवाले मुमुक्षु की उपासना की सिद्धि के लिये क्रतु से लेकर असत् पर्यन्त 'सब मैं ही हूँ' कह कर सब का स्वमात्रत्व (ब्रह्मस्वरूपत्व) प्रतिपादन कर के 'राजविद्या' इत्यादि श्लोक से

(गीता ९।२) ब्रह्मविद्या के अतिरिक्त (भिन्न) समस्त वेदशास्त्र के अध्ययन से जो अन्य विद्यायें उत्पन्न होती हैं वे सब संसार की बुद्धि का कारण होती हैं (अर्थात् जन्ममरणरूप संसारगति के प्रवाह को बढ़ाने वाली हैं), यह जो कहा था उसका 'अश्रद्धधानाः पुरुषाः' (गीता ९।३) इत्यादि श्लोक में निरूपण कर के अब मुमुक्षुओं के विवेक की सिद्धि के लिये पुनः उसी का प्रतिपादन करते हैं—

त्रैविद्याः—ऋग् , यजुः, साम ये तीन विद्या को 'त्रिविद्या' कहते हैं उनका जो अध्ययन करते हैं एवं उनके अर्थ का ज्ञान लाभ करते हैं वे 'त्रैविद्य' हैं। इस प्रकार हो कर भी जो विषय कामी पुरुष स्वयं **सोमपाः**—सोम (सोमरस को) पीते हैं एवं उससे **पूतपापाः**—बहुप्रकार के पाप पूत (निर्गत) हो जाने के कारण अर्थात् पापसमूह निकल जाने पर पवित्र हुए हैं वे **यज्ञैः**—यज्ञों से (अर्थात् अग्निष्टोम, अतिरात्र आदि क्रतुओं से) **माम् इष्ट्वा**—अष्टवसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, तथा प्रजापति एवं वषट्कार रूप जो देवता के सम्बन्ध में कहा गया है उन रूप से मुझ परमेश्वर की सम्यक् प्रकार से आराधना (पूजा) कर **स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते**—स्वर्ग प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं। शास्त्र में कहा है—'स्वर्गे लोके न भयं किञ्चास्ति,' 'स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते' अर्थात् स्वर्गलोक में किसी प्रकार का भी भय नहीं है, स्वर्ग में स्थित लोग अमृतत्व प्राप्त होते हैं। इस प्रकार श्रुति से स्वर्गरूप फल का श्रवण कर वे 'स्वर्ग मुझे प्राप्त हों' इस प्रकार स्वर्ग के सुख की ही जो कामना करते हैं **ते**—वे स्वर्गकामी पुरुष **पुण्यं सुरेन्द्रलोकम् आसाद्य**—पुण्य (अग्निष्टोम आदि पुण्य कर्मों के फलभूत) सुरेन्द्रलोक अर्थात् स्वर्गस्थान को प्राप्त हो कर **दिवि दिव्यन् देवभोगान् अश्नन्ति**—स्वर्ग में दिव्य (स्वर्गीय) देवताओं के जो शरीर प्राप्त हुए हैं एवं उन शरीर के योग्य जो भोग (सुख) है, तदनुसार भोगों का (सुख विशेषों का) उपभोग करते हैं अथवा देवताओं से प्राप्त हुए देव भोगों का उपभोग करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि 'यावत् संपात-मुषित्वा' अर्थात् जबतक उनके पुण्यों का क्षय (नाश) न हो तबतक रह कर इस न्याय से जबतक पूण्य कर्म के फल का अनुभव (भोग) निर्दिष्ट है तबतक स्वर्ग के भोगों का (सुखविशेषों का) अनुभव (भोग) करते हैं।

(३) नारायणी टीका—२१ वें श्लोक की नारायणी टीका द्रष्टव्य।

[सकाम भाव से वैदिक यागयज्ञादिरूप पुण्यकर्म के फलस्वरूप देवदेह प्राप्त कर स्वर्ग में देवताओंके भोगों को भोगते हैं, इससे क्या अनिष्ट होता है—सो बताते हैं—]

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

अन्वय—ते तं विशालं स्वर्गलोकं भुक्त्वा पुण्ये क्षीणे (सति) मर्त्यलोकं विशन्ति; एवं त्रयीधर्मम् अनुप्रपन्नाः कामकामाः गतागतं लभन्ते ।

अनुवाद—वे लोग विशाल (विस्तीर्ण) स्वर्गलोक भोग कर के पुण्य का क्षय होने पर पुनः मर्त्यलोक में (मनुष्य लोक में) प्रवेश करते हैं, इस प्रकार ऋक्, यजुः तथा साम, इन तीनों वेदों से प्रतिपादित धर्मका (वेदोक्त सकाम यज्ञादि कर्म का) जो लोग आश्रय करते हैं वे कामकामी हो कर (विषय भोगों की कामना से युक्त हो कर) संसार में आवागमन को (यातायात को) प्राप्त होते हैं ।

भाष्यदीपिका—ते—वे सकाम व्यक्तिगण तम्—सकाम यज्ञादिरूप पुण्य कर्म के द्वारा लब्ध उस विशालम्—विस्तीर्ण (अत्यधिक) स्वर्गलोकं भुक्त्वा—स्वर्गलोक के सुख का भोग कर पुण्ये क्षीणे—पुण्यों का क्षय हो जाने पर जिन पुण्यों के फलरूप से स्वर्गलोक के भोगों को प्राप्त हुये थे उन पुण्यों का क्षय होने पर देव देह नष्ट हो जाता है, इस लिये अवशिष्ट कर्मफल भोग करने के लिये पुनः मनुष्य देह को ग्रहण करने के लिये मर्त्यलोकं विशन्ति—इस मर्त्यलोक में (मरणशील लोक में) प्रवेश करते हैं अर्थात् वे पुनः गर्भ-वासादि दुःखों का अनुभव करते हैं । एवम्—जैसा पूर्व में उक्त हुआ है उसी प्रकार पुनः पुनः त्रैधर्म्यम्—केवल वैदिक (तीनों वेदों से विहित सकाम याग यज्ञादि) कर्म अर्थात् होता, अध्वर्यु और उद्गाता—इन तीनों के धर्मों के योग्य अग्निष्टोमादि काम्य कर्म का ['त्रयीधर्मम्' ऐसा पाठ यदि माना जाय तो भी त्रयी अर्थात् वेदत्रय (ऋक्, यजुः तथा साम). उनके द्वारा प्रतिपादित जो धर्म (सकाम धर्म) है उसको 'त्रयी धर्मम्' कहते हैं। उभय पाठ में तात्पर्य एक ही है । इस प्रकार त्रैधर्म्य के (मधुसूदन)] अनुप्रपन्नाः—अनुगत होकर (आश्रय कर) [अनु शब्द का तात्पर्य यहाँ दो प्रकार का हो सकता है—(क) गुरुवाक्य अथवा शास्त्रानुशासन श्रवण करने के पश्चात् त्रैधर्म्य को आश्रय कर अथवा (ख) स्वर्गलोक के भोगों को उपभोग करने के अनु (पश्चात्) मनुष्य लोक में आकर पुनः उस स्वर्ग प्राप्ति के लिये त्रैधर्म्य का

आश्रय कर] कामकामाः—वे काम को (अर्थात् ऐहिक अथवा पारलौकिक भोग्यवस्तु की ही) कामना करते हैं। अतः गतागतं लभन्ते—गमन तथा आगमन को (आवागमन को) ही प्राप्त होते रहते हैं कहीं भी स्वतन्त्रता लाभ नहीं करते। कहने का अभिप्राय यह है कि वे काम के वशीभूत हो कर पुण्य कर्म कर के स्वर्गलोक में गमन करते हैं फिर पुण्यों का क्षय होने से वहाँ से इहलोक में लौटकर पुनः कर्म करते रहते हैं, इस प्रकार गर्भवासादि यातनाओं का प्रवाह अहर्निश (निरन्तर) चलता रहता है।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—उसके बाद ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं·······विशन्ति—जिस स्वर्गलोक को स्वर्गकामी लोग चाहते थे उस स्वर्गलोक के विशाल सुख को भोगकर भोग देने वाले पुण्यों का क्षय हो जाने पर (पुनः) मरणशील पृथिवी लोक में प्रवेश करते हैं। एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना·······लभन्ते—उसके बाद फिर तीनों वेदों द्वारा विहित धर्म का ही बार-बार अनुसरण कर कामकामी हो कर (विषय भोगों को चाहते हुये) गतागत (यातायात अर्थात् संसार चक्र में मृत्यु तथा जन्म) को ही प्राप्त होते रहते हैं।

(१) शंकरानन्द—किञ्च ते—वे सोमरस पीनेवाले स्वर्गकामिगण स्वर्ग में गमन कर विशालम् भुक्त्वा—अपने बहुत पुण्य के फलरूप से अत्यधिक स्वर्गीय सुखविशेष का अनुभव (भोग) कर पश्चात् क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति—उस सुख भोग के हेतु अपने पुण्य के क्षय होने पर मरणशील मनुष्य लोक में प्रवेश करते हैं अर्थात् स्वर्ग का देह त्याग कर फिर पृथिवी में जन्म लेते हैं। एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः—इस प्रकार त्रयी धर्म के अनुसरण करने वाले [तीन वेदों का नाम त्रयी है अर्थात् कर्मकाण्ड को त्रयी कहते हैं।] उन तीन वेदों का कर्मकाण्ड से जो धर्म अर्थात् विधिनिषेध कहा गया वह त्रयीधर्म है। 'त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू' (तीन कर्मों को करने वाला जन्म मरण से तर जाता है), 'दक्षिणावन्तो अमृतत्वं भजन्ते' (दक्षिणाग्नि के उपासक अमृतत्व को प्राप्त होते हैं) इत्यादि अर्थवाद रूप से जो धर्म (वेदों से कहा गया है, उसका अनुसरण जो करते है अर्थात् श्रुति में (वेदों में) उक्त कर्मकाण्ड ही निः श्रेयस (मोक्ष) तथा अभ्युदय की (जागतिक वृद्धि की) सिद्धि के लिये परमकारण (श्रेष्ठ उपाय) है—न शम कारण है, न दम कारण है, न संन्यास भी कारण है, न ज्ञान ही कारण है और न ईश्वर कारण है, ऐसा निश्चय कर केवल कर्म मार्ग में ही निष्ठा रखने वाले कामकामाः—विषय भोग कामिगण [जो चाहे जाते हैं वे

काम हैं। उन कामों को अर्थात् पृथिवी के और स्वर्ग के विषयों को जो चाहते हैं, वे 'कामकामी' हैं अर्थात् विषयलम्पट मीमांसक पण्डित लोग] वे जिस प्रकार पूर्व में कहा गया है उस प्रकार से गतागतम्—गमन—आगमन रूप कर्मफलको ही लभन्ते—प्राप्त करते हैं अर्थात् स्वर्ग से लौट कर जन्म लेते हैं और जन्म लेकर 'त्रयीधर्म' अनुसरण करके फिर मरकर स्वर्ग में जाते हैं, इस प्रकार जन्म-मरणरूप प्रवाह में विषय भोग की कामना करने वाले अज्ञानी डूबते ही रहते है।

(३) नारायणी टीका—ज्ञान यज्ञ से जो मुमुक्षु निष्काम भाव से एकत्व, पृथक्त्व या सर्वरूप से मेरा भजन करते हैं वे चित्तशुद्धि द्वारा क्रमशः तत्त्वज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं किन्तु जो विषय सुख की कामना करके (मोक्ष के लिये नहीं) मेरी पूजा करते हैं वे दुःखमय संसार प्रवाह में ही भटकते रहते हैं, यही दो श्लोकों में श्रीभगवान् स्पष्ट कर रहे हैं। सकाम उपासक 'त्रैविद्य' (ऋक्, साम, यजुः इन तीन वेदों के ज्ञाता) होकर भी एवं वेदविहित अग्निष्टोमादि यज्ञों के द्वारा मुझ परमेश्वर की पूजा कर यज्ञ के शेष सोमरस पान करके 'पूतपाप' अर्थात् निष्पाप होकर भी स्वर्गलोक प्राप्ति के लिये अर्थात् स्वर्गलोक के भोगों के लिये ही मुझको प्राप्त होने के लिये नहीं) प्रार्थना (इच्छा) करते हैं। वे अपने पुण्य कर्मों से 'दिवि' अर्थात् स्वर्गलोक में पुण्य (पुण्य के फल रूप से सर्वोत्कृष्ट) सुरेन्द्र लोक (इन्द्र के स्थान) प्राप्त होकर मनुष्यलोक में अलभ्य दिव्य (स्वर्गीय) देव भोगों को (देवदेह से जो भोग सम्भव हैं उन सब विषय भोग सुखों को) भोगते हैं (गीता ९।२०)। किन्तु सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा के बिना अन्य सभी मिथ्या, अनित्य तथा अस्थिर होने के कारण वे सब सकाम पुरुष उनसे प्रार्थित वह विशाल (विस्तीर्ण) स्वर्ग लोक के सुखों का भोग करने के पश्चात् उस भोग से पुण्य फल का क्षय (नाश) होने से अर्थात् देव शरीरका नाश होने पर अवशिष्ट कर्मफल को भोगने के उपयोगी (अनुकूल) देह को धारण करने के लिये पुनः मर्त्यलोक में (मरणशील मनुष्य लोक में) प्रवेश करते हैं अर्थात् पुनः गर्भवासादि जनित यातना अनुभव करते हैं। इस प्रकार जो लोग इन्द्रजाल के समान इस दृश्य प्रपञ्च में सत्यत्व बुद्धि रखकर एव मुझ सर्वात्मा का निरादर कर विषय मरीचिकाकी आपातरमणीयता से मुग्ध होकर इह लोक में विषय सुख की ही कामना करते हैं वे त्रयीधर्म का अनुष्ठान करने पर भी अर्थात् ऋक्, साम, यजुः—इन तीन वेदों से जो धर्म (यज्ञादि कर्म) विहित हैं उनके अनुप्रपन्न (नियम से आश्रित) होकर भी अर्थात् उन

धर्मों का वेदविधान के अनुसार भलीभाँति अनुष्ठान करने पर भी काम का (भोग का) ही कामी होने के कारण गतागत (अर्थात् संसार में आवागमन) को प्राप्त होते हैं अर्थात् अनित्य स्वर्ग सुख का अनुभव करने के पश्चात् मर्त्यलोक में जन्म लेते हैं। मनुष्य लोक में पुण्य कर्म करके स्वर्ग में गमन करते हैं एवं पुण्य का क्षय होने पर फिर मर्त्यलोक में जन्म ग्रहण करते हैं। इस प्रकार आवागमन रूप (जन्ममृत्युरूप) संसार प्रवाह उनके लिये कभी निवृत्त नहीं होता है—'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्' अर्थात् पुनः पुनः जन्म मृत्यु एवं तज्जनित क्लेश चलता रहता है। अतः मनुष्यजीवन का जो परम उद्देश्य है सर्व दुःख की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति, वह कभी उन कामकामी पुरुषों के लिये सम्भव नहीं होता है।

[सकाम कर्मियों की अवस्था तथा गति कहकर जो लोग भगवान के निष्काम अनन्य भक्त हैं उनकी क्या अवस्था होती है, यह कहा जा रहा है]

अनन्यांश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

अन्वय—ये जनाः अनन्याः (सन्तः) मां चिन्तयन्तः पर्युपासते, नित्याभियुक्तानां तेषाम् योगक्षेमं अहं वहामि ।

अनुवाद—जो लोग अनन्य होकर अर्थात् परमात्मा के साथ जो लोग एकात्मभाव से सर्वदा प्रत्यगात्मा मेरा ही चिन्तन करते हुए सब ओर मेरी उपासना करते हैं उस (परमात्मदर्शी) नित्याभियुक्त व्यक्तियों के (अर्थात् श्रद्धा से निरन्तर मुझमें ध्याननिरत व्यक्तियों के) योग तथा क्षेमको मैं ही वहन करता हूँ (योगक्षेम का मैं निर्वाह करता हूँ)।

भाष्यदीपिका—ये जनाः—शमदमादि साधनचतुष्टय सम्पन्न जो संन्यासी अनन्याः (सन्तः)—परमात्मा से अपने को पृथक् नहीं मानते हैं अर्थात् परमदेव मैं नारायण ही सर्वभूतों के आत्मा एवं मुझसे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है इस प्रकार जानते हुए अर्थात् इस प्रकार सर्वत्र एकमात्र अद्वैत तत्त्वदर्शन करते हुए सभी प्रकार की बाह्य भोगस्पृहा से वर्जित होकर मां प्रत्यगात्मभूत मेरा ही (परमेश्वर का ही) चिन्तयंतः—निरन्तर चिन्तन अर्थात् ध्यान करते हुए पर्युपासते परि अर्थात् परितः (सब ओर से अर्थात् सर्वत्र अनवच्छिन्नरूप से उपासते—उपासना (दर्शन) करते हैं तेषाम्

नित्याभियुक्तानाम्—उन नित्य अभियुक्त पुरुषों के अर्थात् सर्वदा आदर पूर्वक ध्यान में व्यापृत परमदर्शियों के (जो निरन्तर ध्याननिष्ठ रहने के कारण देहयात्रा का निर्वाह करने के लिये प्रयत्न नहीं करते हैं तथा योगक्षेम की कामना नहीं करते हैं उनके) **योगक्षेमम् अहम् वहामि**—योग (शरीर की स्थिति के लिये अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त वस्तु की रक्षा) का वहन (व्यवस्था) मैं ही करता हूँ। भगवानने पहले ही कहा है कि आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी—वे चारों प्रकार के मेरे भक्त उदार हैं किन्तु ज्ञानी (परमार्थदर्शी) मेरा आत्मस्वरूप है (गीता ७।२६)—'मैं ज्ञानी को अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी भी मुझे अत्यन्त प्रिय है' (गीता ७।१७) अतः ज्ञानी भगवान के आत्मभूत (आत्मस्वरूप) तथा प्रिय होने के कारण भगवान् उनका योग तथा क्षेम वहन करते हैं। अब प्रश्न होगा कि अन्य भूतों का योग क्षेम भी तो भगवान ही वहन करते हैं अतः केवल अनन्य तथा नित्य अभियुक्त भक्तों का ही योगक्षेम मैं वहन करता हूँ, ऐसा क्यों भगवानने कहा? (उत्तर) यह सत्य है कि अन्य भक्तों का भी योगक्षेम भगवान् ही वहन करते हैं (चलाते हैं) किन्तु उसमें यह भेद है कि जो दूसरे भक्त (आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी भक्त) हैं उनकी देहादि में आत्मबुद्धि रहने के कारण (भगवान से अपने को पृथक् मान लेने के कारण) वे स्वयं भी अपने लिये योगक्षेम-सम्बधी चेष्टा करते हैं। किन्तु जो लोग सर्वात्मा, सर्वेश्वर सर्व-शक्तिमान् परमानन्दस्वरूप भगवान को अपने से अभिन्न जान गये हैं एवं उनमें ही सर्वदा निमग्न रहते हैं वे अनन्यदर्शी भक्त कभी अपने शरीर की रक्षा के लिए योगक्षेम की चेष्टा नहीं करते हैं (क्योंकि उनको देहधारण करने की प्रयोजनीयता का भी बोध नहीं रहता है अर्थात् वे जीने और मरने में भी अपनी वासना नहीं रखते, वे सर्वदा ही एकमात्र भगवान् का आश्रय किये हुए रह जाते हैं। इसलिए भगवान ही स्वयं उनका योगक्षेम वहन करते हैं। [कहने का अभिप्राय यह है कि जो भगवान को अपना आत्मा ही मानते हैं उनकी अपनी वासनाएँ प्रयत्न के विना ही जीवन धारण के अनुकूल सभी वस्तुएँ स्वयं ही उनके पास आ जाती हैं, यही भगवान् के द्वारा अनन्य-भक्तों के योगक्षेम का वहन है। यद्यपि भगवान् सभी के योगक्षेम का वहन करते हैं तथापि जो अनन्य भक्त नहीं हैं उनके हृदय में भगवान् योगक्षेम के लिए प्रयत्न करने की प्रेरणा देते हैं एवं उस प्रयत्न के बल से वे लोग योग-क्षेम का सम्पादन करते हैं। और जो भगवान् का ही अवलम्बन कर निरन्तर उनका ही चिन्तन करते हुए उनमें निमग्न रहते हैं वे जो केवल भगवान् को

ही प्राप्त होते हैं यह बात नहीं, इहलोक में उनकी सभी आवश्यकताओं की सिद्धि भी स्वयं ही हो जाती है, अर्थात् उनके निकट आवश्यक वस्तुएँ अयाचित तथा अप्रत्याशित रूप से उपस्थित होती हैं मानो भगवान् स्वयं ही उनको ला देते हैं, यही अनन्य भक्तों के प्रति भगवान् की विशेष कृपा है ।]

टिप्पणी । (१) श्रीधर--किन्तु भगवान के भक्त भगवान की कृपा से कृतार्थ हो जाते हैं, यह कहते हैं—**अनन्यांश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते**—मुझ (परमेश्वर के) अतिरिक्त अन्य कोई कामना का विषय अथवा भजन करने के योग्य अन्य देवता जिनका नहीं है वे 'अनन्य' भक्त हैं । इस प्रकार अनन्य होकर जो मेरे भक्तलोग मेरा चिन्तन करते हुए मेरी सब प्रकार से उपासना (सेवा) करते हैं, उन नित्य (सर्वदा) अभियुक्त (एकमात्र मुझमें ही निष्ठ अर्थात् स्थित) भक्तों का योगक्षेम मैं ही वहन करता हूँ अर्थात् प्राप्त कराता हूँ । [योग शब्द का अर्थ है धनादिलाभ और क्षेम शब्द का अर्थ है प्राप्त धनादि का पालन (रक्षण) । क्षेम शब्द से मोक्ष को भी सूचित किया गया है । भगवान के कहने का अभिप्राय यह है कि उनके अनन्य भक्तलोग न माँगने पर भी उनके योग (अप्राप्त धनादि का लाभ), क्षेम (प्राप्त धनादि का रक्षण) तथा मोक्षनामक परमक्षेम भी अपनी कृपा से प्राप्त कराते हैं ।]

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार जो लोग जगत् का कोई विधाता ईश्वर है इस बात को अस्वीकार कर केवल कर्मकाण्ड की ही शरण लेते हुए बाह्य विषय सम्बन्धी ज्ञान से युक्त होकर विषयभोग के लिये कामी होते हैं उनकी गति को प्रतिपादन कर अब श्रीभगवान् कहते हैं कि द्वन्द्वरहित, सदा सत्त्व-भाव में स्थित, योगक्षेम की प्रवृत्ति से रहित, आत्मज्ञानसम्पन्न, निष्काम, अहंकार एवं ममकार से शून्य तथा मेरी ही शरण लेनेवाले ब्रह्मविदों के योगक्षेम मैं ही वहन करता हूँ—**अनन्याः**--जिनकी अहंबुद्धि एवं इदंबुद्धि का विषय मुझसे अतिरिक्त (भिन्न) अन्य और कोई नहीं है इस प्रकार अनन्य अर्थात् अद्वैतदर्शन में निष्ठा प्राप्त जो यति **माम् चिन्तयन्तः**—मेरा अर्थात् निर्विशेष नित्य आनन्दैकरस परब्रह्म का ही चिन्तन करते हुए (बाहर के शब्दादिविषय या भीतर के काम क्रोधादि विषय को न ग्रहण कर एकवृत्ति से 'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार भावना करते हुए उपासना करते हैं अर्थात् आपको और सबको सर्वदा ब्रह्म ही देखते हैं, **तेषाम् नित्याभि-युक्तानाम्**—उन नित्य (निरन्तर अर्थात् अविच्छिन्न) अभियोग से (अभिमुख होकर अर्थात् बुद्धिवृत्ति के साक्षातरूप से वस्तु के साथ संयोगद्वारा) जो युक्त हैं उन नित्याभियुक्त (निरन्तरसमाहितचित्तवाले) ब्रह्मविदों के योग-क्षेम

[अपेक्षित अर्थात् प्रयोजनीय अप्राप्त वस्तु का प्राप्त करना योग है और स्थित (प्राप्त हुई) वस्तु का परिपालन क्षेम है, ये दोनों] मैं ही करता हूँ। अथवा उन नित्याभियुक्तों के योगक्षेम की [योग का अर्थात् ब्रह्मनिष्ठा का क्षेम (परिपालन) अर्थात् आध्यात्मिकादि उपद्रवों से जिससे ब्राह्मीस्थिति का विच्छेद न हो उसकी] व्यवस्था मैं स्वयं ही करता हूँ।

(३) नारायणी टीका—पूर्व दो श्लोकों में जो लोग भगवान की प्राप्ति करने की इच्छा कर केवल विषयसुखों के लिये ही शास्त्रीय तथा लौकिक कर्म आदि करते हैं उन कामी पुरुषों की जन्ममृत्युरूप संसारगति की निवृत्ति नहीं होती है, यह कह कर अब भगवान् स्पष्ट कर रहे हैं कि जो भक्त भगवान का पूजन अनन्यभाव से करते हैं एवं सर्वतोभाव से तथा सर्वदा उनके साथ युक्त रहते हैं उनकी भगवत्प्राप्ति तो अवश्यम्भावी ही है बल्कि उन भक्तों का जीवितावस्था में भी कोई प्रयत्न के बिना ही जीवनधारण के अनुकूल योग-क्षेम का सम्पादन भगवान के द्वारा ही होता रहता है। (क) एकमात्र भगवान ही सत्यवस्तु—(ख) उनसे अतिरिक्त जो अन्य (अर्थात् नानारूप से) वस्तु देखी जाती है वह कल्पित, मिथ्या तथा शुद्धचैतन्यस्वरूप भगवान में अध्यस्त है, (ग) अध्यस्त वस्तु की सत्ता अधिष्ठान से पृथक् नहीं होती है, अतः वे भगवान् सर्वभूतों के आत्मा हैं—इस प्रकार विवेक बुद्धि से निश्चय करके जो 'अनन्य' होकर अर्थात् उनके अन्य कोई उपास्य न रहने के कारण एकमात्र मुझको (परमब्रह्मरूप वासुदेव को) ही आत्मारूप से जानकर मुझे 'परितः' (सब ओर से निरवच्छिन्न भाव से अर्थात् सर्वत्र एवं सर्वदा) चिन्तन (ध्यान) करते हुए उपासना (सेवा) करते हैं, इस प्रकार नित्य (निरन्तर) अभियुक्त (आदर अर्थात् अतिशयश्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक ध्यान में व्यापृत अर्थात् लगे हुए) मेरे यथार्थदर्शी भक्त को जीवनयात्रानिर्वाह के लिये कोई प्रयत्न का अवसर नहीं मिलता है और न तो जीने मरने में अपनी कोई चिन्ता भी रहती है क्योंकि उनका मन मेरे चिन्तन में ही सर्वदा निमग्न (डूबा) रहता है। इस प्रकार भक्तों को मुख्यफल के रूप से परमानन्दस्वरूप मुक्ति तो अवश्य ही मिलेगी, परंतु गौणफलरूप से प्रारब्धानुसार जब तक आयुः रहती है तबतक मैं (भगवान्) ही उनके योग (अप्राप्त आवश्यक वस्तुकी प्राप्ति) तथा क्षेम (प्राप्त वस्तु की रक्षा) के लिये सर्व प्रकार की व्यवस्था करता हूँ अर्थात् भक्तों के ये दोनों काम मैं स्वयं किया करता हूँ। इस प्रकार परमार्थज्ञानी भक्तों का मैं आत्मा हूँ और वे भी मेरे आत्मा हैं, अतः अतिशय प्रिय हैं (गीता ७।१७–१८)। फिर वे ज्ञानी भक्त मेरा चिन्तन करते करते मेरा

स्वरूप ही प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि शास्त्र में कहा है—'तं यथा यथा उपासते तथैव भवति' अर्थात् उन भगवान की जिस जिस प्रकार से उपासना की जाती है उपासक भी उसी स्वरूप को प्राप्त होता है। अतः मुझ सत्यसंकल्प आप्तकाम पूर्ण भगवान् में नित्य लगे हुये भक्तों की भी सब आवश्यक वस्तुएँ प्रयत्न के विना स्वतः ही प्राप्त होनी हैं। मुझमें (मेरे अखण्ड, अद्वितीय, शुद्ध स्वरूप में) स्थित होनेपर ऐसा होता है, अतः उनका योगक्षेम स्वयं मैं (भगवान्) ही चलाता हूँ, ऐसा कहा जाता है। माया मेरी दासी है, अतः अनन्यभाव से मेरा निरन्तर चिन्तन करते हुए जो भक्त आत्मसंस्थ (स्वरूप में स्थित) होते हैं, वे तो भगवान ही हो जाते हैं। श्रुति भी कहती है—'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति' अर्थात् जो ब्रह्म को जानते हैं, वे ब्रह्म ही हो जाते हैं। अतः ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त परमार्थज्ञानी की भी माया दासी बनकर माया से उत्पन्न सभी वस्तुओं से सेवा करेगी, इसमें आश्चर्य की बात क्या है? माया और मायावी में कोई अन्तर (भेद) नहीं है, अतः मैं (भगवान्) परमार्थज्ञानी भक्तों का योगक्षेम वहन करता हूँ अर्थात् चलाता हूँ—यह कहना ठीक ही है।

मैं सबके भर्ता (पोषणकर्ता) तथा प्रभु (स्वामी अर्थात् नियन्ता) हूँ, यह मैंने पहले ही कहा है (गीता ९।१८)। अतः केवल मेरे ज्ञानी भक्तों का ही नहीं किन्तु मेरे अन्य भक्तों का भी (आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी भक्तों का भी गीता ७।१६) एवं समस्त प्राणियों का भी मैं ही योगक्षेम चलाता हूँ। परन्तु वे एकमात्र मुझको ही अवलम्बन करके श्रद्धा तथा पूर्ण विश्वास के साथ मुझमें निरन्तर स्थित नहीं रहते हैं। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी भक्तों की देह में आत्मबुद्धि तथा मिथ्या जागतिक विषयों में सत्यत्वबुद्धि रहती है, अतः वे अनन्यभाव से मेरा चिन्तन (ध्यान) नहीं कर सकते और न तो निरन्तर मुझमें लगे हुये रह सकते हैं। दूसरे विषयासक्त जीवों की चिन्ता तो भोग-वासना की तृप्ति करने के लिये ही लिप्त रहती है। फिर वे सब अहंकार का (कर्तृत्वाभिमान का) आश्रय लेकर यही सोचते हैं कि 'मैं यदि प्रयत्न न करूं तो जीवनयात्रा का निर्वाह कैसे होगा ?'। अतः मैं भी उनकी बुद्धि में प्रेरणा देता हूँ जिससे वे स्वयं ही अपने लिये योगक्षेमसम्बन्धी चेष्टा करते हैं। अहंकार से विमूढ़ होकर अपने को कर्ता मानकर (गीता ३।२७) वे नहीं समझते हैं कि एकमात्र चैतन्यस्वरूप सर्वात्मा मेरी प्रेरणा के विना किसी को प्रयत्न करने की सामर्थ्य नहीं है। अतः सबके योगक्षेम का वहनकर्ता जो मैं ही हूँ—यह वे नहीं जान सकते हैं परन्तु मेरे अनन्यभक्त यह प्रत्यक्षरूप से अनुभव करते हैं, यही विशेषता है।

[अब प्रश्न हो सकता है 'अच्छा अन्य जो देवताएँ हैं वह भी तुम ही हो क्योंकि तुमसे अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु तो है ही नहीं, यह तो तुमने पहले ही कहा है। अतः जो लोग अन्य देवताओं के भक्त हैं वे भी तुम्हारा ही भजन करते हैं अर्थात् अन्य देवताओं के रूप में वे लोग तुम्हारी ही उपासना करते हैं। अतः उन देवताओं के भक्तों की अपेक्षा तुम्हारे भक्तों में कोई विशेषता यदि नहीं है, तो जो लोग 'कामकामा' होकर अग्निष्टोमादि यज्ञ में वसु, रुद्र, आदित्य प्रभृति देवताओं की उपासना करते हैं वे लोग संसार में आवागमन को प्राप्त होते हैं और जो लोग अनन्य होकर तुम्हारी चिन्ता करते हैं वे लोग कृतकृत्य होते हैं, ऐसा जो तुमने कहा वह कैसे संगत है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—'हाँ' सत्य हैं, दोनों ही मेरी उपासना करते हैं किन्तु विशेष यह है कि—]

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

अन्वय—हे कौन्तेय ! ये अन्यदेवताभक्ताः अपि श्रद्धया अन्विताः यजन्ते ते अपि अविधिपूर्वकं माम् एव यजन्ते ।

अनुवाद—हे कौन्तेय ! जो लोग अन्य देवताओं के भक्त हैं एवं श्रद्धा के साथ उन उन देवता की उपासना करते हैं, वे भी अविधिपूर्वक मेरी ही उपासना करते हैं।

भाष्यदीपिका—हे कौन्तेय ! हे अर्जुन ! [तुम्हारी माता कुन्ती मेरी एकान्त भक्त हैं, अतः तुम भी स्वयं मेरे अनन्य भक्त होगे एवं मोक्ष लाभ करोगे उसमें और संदेह क्या है ? इसे ही सूचित करने के लिए यहाँ अर्जुन को भगवान् 'कौन्तेय' कहकर सम्बोधन किये।]

ये—जो लोग अन्य देवता भक्ताः अपि—अन्य (इन्द्रादि) देवता के भक्त होकर भी श्रद्धया अन्विताः—श्रद्धा अर्थात् आस्तिक्य बुद्धि से अनुगत (युक्त) होकर यजन्ते—पूजा करते हैं अर्थात् ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ के द्वारा पूजा करते हैं ते अपि—वे भी अविधिपूर्वकम्—अविधि (अज्ञान) पूर्वक अर्थात् मुझको सर्वात्मरूप से न जानकर वसु प्रभृति देवताओं को मुझसे भिन्न समझकर माम् एव यजन्ते—मेरा ही पूजन करते हैं।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—यदि कहो कि वास्तव में तुमसे अतिरिक्त अन्य देवता का अभाव होने के कारण इन्द्रादि देवताओं की सेवा करनेवाले

पुरुष भी तुम्हारे ही भक्त हैं, तथापि क्यों वे संसार में आवागमन को प्राप्त होंगे ? इसके उत्तर में कहते हैं—

ये अपि भक्ताः श्रद्धयान्विताः अन्यदेवताः यजन्ते इत्यादि—यह ठीक है कि श्रद्धासम्पन्न होकर जो भी यज्ञ के द्वारा इन्द्रादिरूप अन्य देवताओं का यजन (पूजन) करते हैं ते अपि अविधिपूर्वकम् माम् एव यजन्ति - वे भी मेरा ही पूजन करते हैं, किन्तु वे अविधिपूर्वक अर्थात् मोक्षप्राप्ति के लिये जो विधि है उसके विना पूजन करते हैं, इसलिये वे संसार में पुनरावर्तन करते हैं (लौटकर आते हैं)

(२) **शंकरानन्द**—'अहं क्रतुः' इत्यादि से तुमने कहा कि क्रतु, यज्ञ, मन्त्र देवता आदि सब तुम ही हो अर्थात् तुम ही सर्वभूतों का आत्मा हो ऐसा प्रतिपादित किया। जो लोग 'कामकामी' (विषय भोग कामी) हैं, वे भी इन्द्रादि देवता रूप तुम्हारी ही क्रतु इत्यादि रूप से उपासना करते हैं। अतः वे भी तुम्हारा ही भक्त हैं। इसी अवस्था मे तुम्हारे उन भक्तों का मुख्य (मोक्ष रूप) फल से भ्रंश तथा उन्हें जन्म आदि अनर्थ की प्राप्ति कैसे होगी ? (उत्तर) 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म (सभी यह ब्रह्म है,), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सब निश्चय ही यह ब्रह्म है), 'इन्द्र' मित्रम् (इन्द्र मित्र), 'एकं सद्विप्रा बहुधा बदन्ति' एक सत् को ब्राह्मण लोग बहु प्रकार से वर्णन करते हैं, इत्यादि श्रुति वाक्यों से तथा 'भूतानि विष्णुः' (भूत समूह विष्णु हैं) इत्यादि स्मृतियों से सब ब्रह्म ही हैं, ऐसा प्रतिपादन किया गया है और 'मैं क्रतु हूँ' इत्यादि से मेरी सर्वात्मता (मैं ही सर्वभूतों का आत्मा हूँ' यह) मैंने भी कहा है। यद्यपि यह सत्य है कि सभी देवताओं के आत्म रूप से मैं ही स्थित हूँ, अतः काम-कामी (विषयासक्त) पुरुष भी क्रतु यज्ञादि से देवताओं की उपासना करते हुए मेरी ही उपासना करते हैं तथापि श्रुति-स्मृतियों में जो कुछ कहा गया है तथा मैंने जो कहा है उसमें विश्वास न कर अविद्या, अस्मिता आदि दोषों से (बुद्धि मलिन होने के कारण) सब ब्रह्म हो हैं' इस प्रकार मेरा ब्रह्मस्वरूपत्व न जानकर अपने में, देवताओं में तथा मन्त्र आदि में भेदबुद्धि का परित्याग न कर मेरी उपासना करते हैं। इसलिये (यथार्थ रूप से) वे मेरे भक्त नहीं हैं किन्तु (भेद बुद्धि से पृथक् पृथक् देवताओं की पूजा करते हैं, अतः) वे देवयज ही हैं। इस कारण से उनका मुख्य फल से (मोक्ष से) भ्रंश एवं अनर्थ पात होता है—यही अब सिंहावलोकन न्याय से पूर्व श्लोक के अर्थ का अनुसरण करके प्रतिपादन करते हैं ये अपि—इस लोक और परलोक के फल की कामना जो कोई ब्राह्मण आदि करते हुए श्रद्धया अन्विताः—अपने

इष्ट देवता में तथा उसकी आराधना में श्रद्धा से यह मेरी परम देवता है, इसकी आराधना से मैं कृतार्थ होऊँगा।' इस प्रकार की आस्तिक्य बुद्धि से अन्वित अर्थात् युक्त होकर स्वयं अन्य देवता भक्ताः अन्य अर्थात् अपने से भिन्न कोई देवता विशेष का भक्त होकर ['यह मेरी देवता है, इनका उपासक मैं हूँ' इस प्रकार अपने से पृथक् रूप से गृहीत इन्द्र आदि देवता के ही भक्त अर्थात् उसके आराधन में संलग्न होकर यजन्ते—उसकी पूजा करते हैं (वैदिक तथा तन्त्र विधि से उपासना करते हैं) ते अपि—[तथापि वे यद्यपि इन्द्रादि देवताओं के उपासक हैं तथापि वे] माम् एव अविधिपूर्वकम् यजन्ति—ब्रह्म सर्वात्मक होने के कारण इन्द्रादि देवता रूप से मेरी ही आराधना करते हैं किन्तु यह आराधना (उपासना) अविधिपूर्वक होता है। जिसमें (शास्त्रविहित) विधि तथा विधि के अर्थ का ज्ञान न हो, वह अविधि है अर्थात् अज्ञानता पूर्वक यजन को अविधिपूर्वक कहा जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि वे अन्य देवता भक्त लोग 'अहं क्रतुः' इत्यादि श्लोकों में (गीता ९।१६-१९) जो कहा गया है उस प्रकार से इज्य (जिस सामग्री से यजन किया जाता है), याजक, यजन (यजनरूप क्रिया) और याग, वे सब ब्रह्म ही हैं, इस प्रकार के ज्ञान से शून्य होकर मेरा पूजन करते हैं।

(३) नारायणी टीका—अनन्य भक्तों को मुख्य फल के रूप से मुक्ति तथा गौणफल के रूप से योगक्षेम का सम्पादन भगवान् द्वारा होता है यह पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है किन्तु जो उपास्य को अपने आत्मा के रूप से नहीं जानते हैं अर्थात् विष्णु, इन्द्र, राम, कृष्ण इत्यादि देवताओं को आत्मा से अन्य (भिन्न) समझकर श्रद्धा से युक्त होकर (पुराण, स्मृति इत्यादि शास्त्रों के वाक्यों में विश्वास रखकर) भक्ति से उन देवताओं का पूजन (उपासना) करते हैं वे भी तत्-तत् देवतारूप से स्थित मुझ सर्वात्मा परमेश्वर का ही भजन करते हैं किन्तु उनका किया हुआ मेरा भजन अविधि (अज्ञान) पूर्वक है, क्योंकि वे नहीं जानते हैं कि सर्व देवता के रूप में, सर्वभूतों के रूप में (अतः जो उपासक है उसके रूप में भी) नित्य, सत्य, अखण्ड, अद्वितीय, सच्चिदानन्दघन मैं ही अवस्थित हूँ। इस प्रकार उपासकों में से (१) जो कामकामी (विषय-सुखों में आसक्त) है वह उसके उपास्य (इष्ट) देवता की प्राप्ति के लिये भजन नहीं करता है—उसका पूजन का मुख्य उद्देश्य रहता है इष्टदेवता की कृपा से इच्छित (अभिलषित) विषयों की प्राप्ति। अतः इससे और अधिक अज्ञान क्या हो सकता है ? क्योंकि इस प्रकार उपासक (दुःखमय) संसार में

आवागमन करता रहता है, यह २०-२१ श्लोकों में स्पष्ट किया गया। (२) जो इष्टदेवता की साकारमूर्ति को आत्मा से भिन्न समझकर भजन करते हैं, वह उसी श्रद्धा तथा भक्ति पूर्वक उपासना के फलरूप से तत्—तत् परिच्छिन्न देवता की स्वरूपता को प्राप्त होता है एवं मृत्यु के पश्चात् उस देवता के लोक में गमन करता है। किन्तु परिच्छिन्न देवमूर्ति एवं उस देवता का लोक भी माया के अधीन ही हैं, अतः वे सब नश्वर हैं। अतः इसप्रकार उपासना जो अज्ञान पूर्वक ही होती है इसमें संशय क्या रह सकता है ? (३) यदि कोई देवता का प्रतीक (साकारमूर्ति) को भगवान् का ही स्वरूप मानकर श्रद्धा से भजन करता है किन्तु वह उपास्य देवता सर्वभूतों का तथा अपना आत्मा ही है, यह नहीं जानता है (अर्थात् भगवान के प्रतीक को आत्मा से भिन्न समझकर पूजन करता है) वह भी अज्ञान पूर्वक हो उपासना करता रहता है किन्तु उस देवता को भगवान् से अभिन्न मानकर पूजन करने के फलरूप से उस भक्त का अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक में गमन होता है एवं वहाँ वह तत्त्वज्ञान प्राप्तकर मुक्त हो जाता हैं अर्थात् अज्ञान पूर्वक साकार भगवान् की उपासना करता हुआ भी उपासना के फलरूप से उसका क्रममुक्तिलाभ होता है। उपास्य को सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं अनन्तरूप (असीम तथा पूर्णस्वरूप) आत्मा से पृथक् मानकर पूजन अज्ञान से ही सम्भव होता है। पूर्ण को परिच्छिन्न मानना, चेतन को जडमूर्ति रूप से ग्रहण करना, तथा देवताओं की मूर्ति दृश्य होने पर भी उसे नित्य तथा सत्य समझना, इससे अधिक अज्ञान और क्या हो सकता है ? इसलिये श्रुति कहती है—'तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स भवति अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम् ॥' अर्थात् अभी भी उक्त ब्रह्म को जो 'मैं हो वह ब्रह्म हूँ', ऐसा जानता है, वह भी ये सब हो जाता है अर्थात् वह भी सर्वस्वरूप होता है। देवताएँ भी उसको सर्वात्मभाव की प्राप्ति में विघ्न उत्पन्न नहीं कर सकती क्योंकि वह उन देवताओं का भी आत्मा होता है अर्थात् देवताओं से अभिन्न भाव प्राप्त करता है। अतः देवताएँ अपने आत्मा के प्रतिकूलाचरण नहीं करती हैं। परन्तु यदि कोई अब्रह्मवित् 'यह मेरा उपास्य, यह मुझसे पृथक् (भिन्न) है तथा मैं भी इससे पृथक् हूँ', ऐसा मानकर आत्मा के अतिरिक्त अन्य देवता की स्तुति, नमस्कार, याग, बलि, उपहार, एकाग्रता, ध्यान आदि द्वारा उपासना करे तो वह उपासक यथार्थ तत्त्व को नहीं जानता है। वह केवल अज्ञानी ही नहीं है, वह तो मनुष्य का काम करने के लिये

जिस प्रकार पशु रहते हैं उसीप्रकार देवताओं के लिये वह पशु होकर ही रहता है अर्थात् पशु जैसे अपने स्वामी का सेवा द्वारा पालन करते हैं, उसीप्रकार अज्ञानी पुरुष भी यागयज्ञादि के द्वारा देवताओं का पालन करते हैं अर्थात् आत्मा से अतिरिक्त अन्यदेवता का उपासक देवता का पशु (दास) वनकर रहता है। किन्तु जो भगवान् का अनन्य भक्त है वह इस जन्म में ही ज्ञान प्राप्त कर (भगवान् के साथ एकात्मता साक्षात् अनुभव कर जीवन्मुक्ति अवस्था एवं मृत्यु के पश्चात् सद्योमुक्ति लाभ करता है—यही अनन्यभक्त तथा अन्यदेवताओं के भक्तों में पार्थक्य (फलभेद) है।

[किस कारण से अन्य देवता के भक्त की उपासना अविधि (अज्ञान) पूर्वक होती है ? इसके उत्तर में भगवान कह रहे हैं—)

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ २४ ॥

अन्वय—अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुः एव च; ते मां तत्त्वेन न अभिजानन्ति, अतः च्यवन्ति।

अनुवाद—मैं सभी प्रकार के यज्ञों के भोक्ता तथा प्रभु हूँ; वे लोग (अर्थात् अन्य देवता के भक्तगण) तत्त्व से (यथार्थरूप से) मुझको नहीं जानते हैं, इस कारण वे (फल भोग का अन्त होने पर उन दिव्य लोकों से) च्युत हो जाते हैं।

भाष्यदीपिका—अहं हि— मैं ही। 'हि' शब्द 'यह प्रसिद्ध है' इस बातको प्रकाश करने के लिए व्यवहृत हुआ है। सर्वज्ञानम्—श्रौत तथा स्मार्त्त समस्त यज्ञों का ['सर्व' शब्द के द्वारा द्रव्ययज्ञ तथा ज्ञानयज्ञ के द्वारा जो कुछ किया जाता है, उनका भी ग्रहण किया गया है]।

भोक्ता च— तत् तत देवतारूप से भोक्ता भी हूँ। मैं सर्वात्मा वासुदेव रूप परमेश्वर ही यज्ञों के द्वारा जिस जिस देवता की पूजा की जाती है उस उस (वसु आदित्य आदि) देवता के रूप से समस्त प्रकार के यज्ञ के भोक्ता हूँ। प्रभुः एव च—तथा (उन यज्ञों के) प्रभु (स्वामी) भी मैं हूँ अर्थात् अन्र्यामी के रूप से मैं ही यज्ञों का फल देने वाला हूँ। यह बात 'अधियज्ञोऽहमेवात्र' (गीता ५।२९) इस श्लोक में भी कहा गया है। ते मां तत्त्वेन न अभिजानन्ति—(जो लोग अन्य देवता के उपासक हैं (वे अज्ञानी लोग यथार्थ तत्त्व से मुझे नहीं जानते हैं [सर्वात्मा भगवान वासुदेव ही वसु इन्द्र आदि

देवता के रूप से यज्ञों के भोक्ता एवं वे अपने निज परमेश्वर के रूप से समस्त यज्ञकर्मों के फलदाता हैं अतः उन से भिन्न अन्य कोई आराध्य देव (उपास्य) नहीं है—इस प्रकार मुझको नहीं जानते हैं ।]

अतः च्यवन्ति—इसलिए वे अविधि पूर्वक (अज्ञान पूर्वक) यागयज्ञादि कर्मों के द्वारा पूजन कर के यज्ञ के यथार्थ फल (मोक्ष) से प्रच्युत (भ्रष्ट) होते हैं । [अतः वे अत्यन्त परिश्रमपूर्वक यज्ञादि कर्मों से अन्य देवता का यजन कर के भी मुझको सर्वकर्म के भोक्ता तथा कर्मफलदाता के रूप से नहीं जानने के कारण मुझे कर्मफलों का समर्पण नहीं करते हैं, अतः उनके कर्मोंका बीज रह जाता है । इस लिए धूमादि मार्ग द्वारा देवलोक आदि में गमन कर, उनका भोग समाप्त होने पर उन लोक से च्युत होकर पुनः देह ग्रहण करने के लिए मनुष्य लोक में लौट आते हैं । और जो भक्त भिन्न भिन्न देवता की उपासना करते हुए भी उसमें सर्वान्तर्यामी भगवान् का ही स्वरूप अनुभव करते रहते हैं, निष्कामरूप से यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान कर भगवान को ज्ञानपूर्वक समस्त कर्म समर्पण करते हैं, वे अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक में गमन करते हैं एवं वहाँ उनका सम्यक् दर्शन (अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार रूप तत्त्वज्ञान) उत्पन्न होने पर उस का भोग समाप्त होने तर मुक्तिलाभ करते हैं, यही अन्य देवता-भक्त का भगवद्भक्तों से भेद है (मधुसूदन) ।]

टिप्पणी १ श्रीधर—पूर्व श्लोकोक्त विषय को खोलकर वर्णन करते हैं—अहम् हि सर्वयज्ञानाम् भोक्ता च प्रभुः एव च—मैं ही सभी यज्ञों का उन-उन देवताओं के रूप से भोक्ता तथा स्वामी (कर्मफलदाता) हूँ । न तु माम् ते तत्त्वेन अभिजानन्ति—किन्तु मैं इस प्रकार हूँ, यह वे तत्त्व से (यथार्थ रूप से) नहीं जानते हैं अतः ते च्यवन्ति—इसलिये वे च्युत होते हैं अर्थात् पुनः संसार में लौट आते हैं । परन्तु जो समस्त देवताओं में मुझको ही अन्तर्यामीरूप से देखते हुए मेरी पूजा करते हैं, वे संसार में पुनरावर्तन नहीं करते हैं ।

(२) शंकरानन्द—(प्रश्न) 'शुष्टास्त्रयो वैष्णवाः' (पवित्रकारक तीनों ही अर्थात् याजक, यजन एवं यज्ञ विष्णु हैं), 'अग्नेर्घृतं विष्णोस्तण्डुलः' (अग्नि का घृत), (विष्णु के तण्डुल), 'यज्ञो वै विष्णुः' (यज्ञ ही विष्णु है)—इस प्रकार के वचनों से वे जब तुमको यज्ञों में भोक्ता और नेता जानकर ही यजन करते हैं, तब तुम कैसे कहते हो कि वे अज्ञानपूर्वक यजन करते हैं ? अब श्रीभगवान् इसका उत्तर देते हैं—हि—पूर्वोक्त श्रुति वचनों की प्रसिद्धि प्रकाश करने के लिये 'हि' शब्द है । अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुः

एव च—यद्यपि मैं ही सब श्रौत तथा स्मार्त यज्ञों का इन्द्रादि देवताओं के रूपसे भोक्ता, प्रभु तथा ('च' शब्द से) नेता हूँ एवं वे भी उसी प्रकार मुझ को भोक्ता तथा प्रभु जानते हैं, तथापि **न तु माम् तत्त्वेन अभिजानन्ति**—वे मुझको तत्त्व से नहीं जानते हैं अर्थात् 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' [ब्रह्म ही अर्पण है एवं ब्रह्म ही हवि है, यह सब ब्रह्म ही है] इत्यादि श्रुतियों में जैसा कहा गया है एवं मैंने भी जैसा कहा है उसी रीति से यज्ञ का भोक्ता, यज्ञका नेता, यजमान, याजक और चरु, पुरोडाश आदि तथा यह सब ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न अन्य कुछ नहीं है, इस प्रकार तत्त्व से अर्थात् यथाभूत स्वरूप से मुझको (ब्रह्म को) नहीं जानते। **अतः ते च्यवन्ति**—अतः मेरे तत्त्व का (यथार्थस्वरूप को) न जानने के कारण ही वे अन्य देवताओं के याजक च्युत होते हैं अर्थात् परमपुरुषार्थ से (मोक्ष से) भ्रष्ट होते हैं अर्थात् कभी भी मुक्तिलाभ नहीं करते हैं।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि जो किसी देवता विषय को सर्वात्मा भगवान से पृथक् समझकर पूजन करता है तो वह पूजन (उपासन) भगवान् का (परमात्मा का) ही होता है किन्तु अवधि (अज्ञान) पूर्वक होता है। सर्वभूतों में, सर्वदेवताओं में तथा अपने में एक मात्र सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् ही विद्यमान है, यह न जानना या न देखना ही अविधि या अज्ञान है एवं वह अज्ञान ही संसारगति का मूल कारण है। ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मानुष्ठान में परिश्रम समान है किन्तु अज्ञानी जिस समय भेदबुद्धि से देवताओं के उद्देश्य से यज्ञादि कर्मों को करते हैं, उस समय वे नहीं जानते हैं कि सर्वप्रकार यज्ञों के तत्-तत् देवता के रूप से मैं ही उन यज्ञों के हविः आदि सामग्री का भोक्ता हूँ एवं उन यज्ञों का प्रभु (स्वामी) अर्थात् फल प्रदान करने वाला भी मैं ही हूँ। अथवा इस श्लोकमें प्रभु शब्द तत्पद का वाच्यार्थ है एवं भोक्ता शब्द त्वं पद का वाच्यार्थ है। लक्ष्यार्थ में वे दोनों एक होता है, यह स्पष्ट करने के लिये श्रीभगवान् कह रहे हैं कि प्रभु भी तथा भोक्ता भी दोनों मैं ही हूँ अर्थात् भोक्ता व प्रभु शब्दों से 'तत्त्वमसि' महावाक्य का तात्पर्य यहाँ सूचित कर रहे हैं। परम-ब्रह्मस्वरूप सर्वभूतात्मा श्रीकृष्ण का जो शुद्ध 'अहम्' है, वही महावाक्य में तत् पद का लक्ष्यार्थ है—वही त्वम् पद का अर्थात् जीव का 'अहम्' पदका भी लक्ष्यार्थ है। तत् पद का वाच्यार्थ है मायोपहित ब्रह्म अर्थात् ईश्वर और त्वम् पद का वाच्यार्थ है अविद्योपहित जीव। एक परमब्रह्म ही जब मायारूप उपाधि को स्वीकार कर (अर्थात् माया को वशीभूत कर) जगत् की सृष्टि

आदि कार्यों को करते हैं तब उनको प्रभु (ईश्वर) कहा जाता है और वे ही जब अज्ञानरूप उपाधि को स्वीकार कर (मानों माया से वशीभूत होकर अपने सत्य-ज्ञान-अनन्त स्वरूप को भूल कर) परिच्छिन्न देहादि में आत्मबुद्धि कर अपने को कर्म के कर्ता तथा कर्मफलों का भोक्ता मानते हैं, तब उन्हीं ब्रह्म को जीव कहा जाता है [अर्थात् एक ही शुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म उपाधि भेद से समस्त द्रव्ययज्ञ तथा ज्ञानयज्ञों का अर्थात सर्वकर्मों का प्रभु (नियन्ता ईश्वर) एवं जीवरूप से कर्मफलों का भोक्ता होते हैं। अतः परब्रह्मस्वरूप वासुदेव ही सब कुछ है, इस प्रकार का ज्ञान ही तत्त्वज्ञान है और यह तत्त्वज्ञान होने पर भगवान् का भक्तलोग अभितः (सर्वतः अर्थात् सर्वत्र एक ही भगवत्सत्ता विद्यमान है इसप्रकार) जानते हैं एवं सम्यग्दर्शी होकर जीवन्मुक्ति-अवस्था प्राप्त कर लेते हैं यही मुक्ति का एकमात्र उपाय है। अतः भिन्न देवताओं की उपासना में श्रद्धासहित रत होकर नाना प्रकार के परिश्रम साध्य यज्ञ, जप ध्यान इत्यादि करते हुए भी भेदबुद्धि के कारण सर्वदेवता के रूप में मैं ही (परमात्मा ही) विद्यमान हूँ इस प्रकार तत्त्व से (यथार्थ ज्ञान से) यदि मुझे न जाने तो उन यज्ञादि कर्मों से जिस लोक की प्राप्ति होती है उस लोक से (पुण्य-कर्मों के फलों का क्षय होने पर) वे अज्ञानी पुरुष च्युत होते हैं अर्थात् पुनः मर्त्यलोक में शरीरग्रहण करने के लिये लौट आते हैं। इसलिये श्रुति में भी कहा गया है—

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थम्
नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥ (श्वे० उ० १।१२)

अर्थात् भोक्ता (जीव) भोग्य (समस्त विश्व प्रपञ्च) एवं अन्तर्यामी प्रभु (ईश्वर)—ये तीनों ही ब्रह्म हैं, ऐसा ज्ञानी लोग कहते हैं। अतः इन त्रिविध वस्तुओं को ब्रह्मस्वरूप जानकर उस बह्म को मुमुक्षु साधक सदा ही अपने आत्मा के रूप से जानने के लिये प्रयत्न करते हैं क्योंकि इस प्रकार आत्मस्वरूप ब्रह्म के ज्ञान से अतिरिक्त और कुछ भी ज्ञातव्य (जानने योग्य) विषय नहीं है। [अतः इस प्रकार ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। जिनको इस शरीर में ही वह तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ है वे मृत्यु के पश्चात् सद्योमुक्ति प्राप्त होते हैं और जो सगुण ब्रह्म की उपासना से ब्रह्म लोक में गमनकर तत्त्व ज्ञान लाभ किये है उनकी क्रममुक्ति होती है। जो इस तत्त्वज्ञान से रहित हैं

वे शुभकर्म द्वारा किसी उच्चस्थान को (स्वर्ग आदि लोक को) प्राप्त करने पर भी उस स्थान से च्युत (पतित) होकर संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।

जो भक्त अन्य देवताओं के प्रति भक्तियुक्त होकर (भेदबुद्धि से) पूजन करते है वे अविधि (अज्ञान) पूर्वक मेरा ही पूजन करते हैं। अतः उनको भी यज्ञका फल अवश्य मिलता है। कैसे ?—सो कहा जाता है—

[पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि जो अन्य देवता के भक्त हैं वे तत्त्वज्ञान न रहने के कारण मोक्षरूप फल से च्युत (भ्रष्ट) होते हैं। परन्तु अन्य देवताओं की उपासना करने वालों को अपुनरावृत्ति (मोक्ष) रूप फल न मिलने पर भी उस-उस देवता के यजन के अनुरूप क्षुद्रफलों की प्राप्ति तो अवश्य होती है—यह बताते हुए भगवान् के अपने उपासकों की अन्य देवताओं के उपासकों से विलक्षणता स्पष्ट कर रहे हैं (मधुसूदन)।]

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

अन्वय—देवव्रताः देवान् यान्ति पितृव्रताः पितॄन् यान्ति, भूतेज्याः भूतानि यान्ति, मद्याजिनः अपि माम् यान्ति।

अनुवाद—देवताओं के पूजन करने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं। जो पितरों की उपासना करते हैं वे पितृलोक को अर्थात् पितरों को प्राप्त होते हैं। जो भूतों के उपासक हैं वे भूतों को प्राप्त होते हैं। और जो मेरी उपासना करते है वे मुझको ही प्राप्त हो जाते हैं।

भाष्यदीपिका—देवव्रताः देवान् यान्ति—जिनका व्रत अर्थात् नियम और भक्ति देवताओं के लिये ही है वे देवव्रत हैं। वे देव-उपासकगण अपने अपने उपास्य देवता को प्राप्त होते हैं। [अन्तःकरण के उपाधिभूत तीन गुणों के भेद से अविधिपूर्वक पूजन करने वाले तीन प्रकार के होते हैं। उनमें जो सात्त्विकवृत्ति सम्पन्न हैं ये देवव्रत होते है अर्थात् उनके बलि, उपहार, प्रदक्षिणा आदि पूजन वसु, रुद्र आदित्य आदि देवताओं से सम्बन्ध रखने वाला होता है। इसलिये वे अपने उपास्य देवता को प्राप्त होते हैं क्योंकि श्रुति कहती है—'तं' यथा यथोपासते तदेव भवति' अर्थात् जो जिस प्रकार जिस देवता की आराधना करता है वह उस देवता के स्वरूप को प्राप्त होता है (मधुसदन)।]

पितृव्रताः पितॄन् यान्ति—जो लोग पितृव्रत (पितृभक्त) हैं अर्थात् अग्निष्वात्तादि नामक पितरों की तृप्ति के लिए श्राद्धादि क्रिया के परायण होकर आराधना करते हैं, वे लोग उन पितृगण को ही प्राप्त होते हैं। [राजस प्रकृति (रजोगुण प्रधान) व्यक्तियों की ऐसी आराधना तथा गति होती है (मधुसूदन)।] भूतेज्याः भूतानि यान्ति—जो लोग भूतों की अर्थात् विनायक, षोडशमातृकागण और चतुर्भगिनी आदि भूत गणों की उपासना करते हैं वे उन भूतों को ही प्राप्त होते हैं अर्थात् उन भूतों के भावों को प्राप्त होते हैं। [तमोगुणी उपासकों का इस प्रकार पूजन तथा गति होती है (मधुसूदन)।] मद्याजिनः अपि मां यान्ति—मेरा (ईश्वर का) याग (पूजन) करने वाले वैष्णव भक्त अर्थात् विष्णुस्वरूप (सर्वव्यापी परमेश्वर स्वरूप) मेरा ही सर्वत्र दर्शन करते हुए उपासना करते हैं वे (अपरोक्ष साक्षात्कार द्वारा) मुझे ही (परमेश्वर को ही) प्राप्त होते हैं।

अन्य देवता के पूजन के लिए जैसा प्रयास (परिश्रम) होता है मेरी पूजा में भी वैसा ही प्रयास होता है किन्तु मेरे भजन से परमानन्द अर्थात् मोक्षरूप फल प्राप्त होता है और अन्य देवता की उपासना का फल है संसार-गति। परिश्रम और अभ्यास में समानता होने पर भी अज्ञान के कारण अनन्तफल (मोक्ष) देनेवाला नित्य, सत्य, सर्वात्मा मेरा पूजन न कर अन्य देवता की उपासना कर अल्प (अर्थात् अनित्य विनाशशील) फल अज्ञानी प्राप्त करते हैं। हाय! अज्ञानियों के दुर्भाग्य की कैसी महिमा है, यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—पूर्वोक्त विषय का उपपादन करते हैं—देवव्रताः देवान् यान्ति—जो देवताओं के निमित्त व्रत (नियम) रखते हैं वे अन्तवान् (विनाशशील) देवताओं को ही प्राप्त होते हैं, अतः संसार में पुनः आवर्तन करते हैं। पितृव्रताः पितॄन् यान्ति—श्राद्धादिक्रियापरायण होकर जिन लोगों का व्रत (नियम) पितरों के निमित्त होता है, वे पितरों को प्राप्त होते हैं। भूतेज्याः भूतानि यान्ति—भूतों को अर्थात् विनायक, मातृका आदि भूतों का जो पूजन करते हैं वे भूतों को प्राप्त होते हैं। मद्याजिनः अपि माम् (यान्ति) परन्तु जो मेरी ही पूजा करते हैं एवं वह पूजन उनके स्वभाव में परिणत हो गया है वे मुझ अक्षय्य (अविनाशी) परमानन्दरूप नारायण को ही प्राप्त होते हैं।

(२) शंकरानन्द—प्रश्न—तब उनकी क्या गति होगी ?

उत्तर—मुख्य फल (मोक्ष) नहीं होने पर भी पृथक् पृथक् देवता की उपासना के अनुसार भिन्न भिन्न फल होता है। यह अब स्पष्ट करते हैं—

देवव्रताः देवान् यान्ति—इन्द्रादि देवताओं के लिये यज्ञ, दान आदि का नियमरूप व्रत अथवा शिव, विष्णु आदि की प्रसन्नता के लिये जप, पूजा, उपवासादि नियमरूप व्रत जो पालन करते हैं वे देवव्रत अर्थात् देवता के यजनकारी देवों को अर्थात् उपास्य देव को (इन्द्र आदि को और नहीं तो शिव, विष्णु आदि को) प्राप्त होते हैं अर्थात् तत्—तत् देवता के पद को प्राप्त होते हैं। पितृव्रताः पितॄन् यान्ति—जिनका व्रत पितरों की प्रीति के लिये होता है अर्थात् पितरों के श्राद्ध में (ब्राह्मणों को) भूरिभोजन कराना आदि नियम है वे पितृव्रत पुरुष पितरों को (अग्निष्वात्त आदि को) प्राप्त होते हैं। भूतेज्याः भूतानि यान्ति—भूतों की अर्थात्, विनायक, वेताल, दुर्गा, क्षेत्रपाल, यक्षिणी आदि की जप, होम, बलि आदि द्वारा जो इज्या (पूजा) करते हैं वे भूतेज्य भूतों को (अपने-अपने इष्ट को) प्राप्त होते हैं। मद्याजिनः अपि माम्—मुझको अर्थात् मुझ सगुण ब्रह्म को 'आदित्यो ब्रह्म' 'मनोब्रह्म' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इसप्रकार (निश्चय कर) भेद बुद्धि से या अभेदबुद्धि से जो पूजते हैं वे मद्याजी हैं अर्थात् मुझ सगुण ब्रह्म के उपासक हैं। वे भी अर्चिरादि मार्ग से क्रमशः मुझ को प्राप्त होता हैं यहाँ 'अपि' शब्द से यही सूचित किया गया है कि निर्गुण परमब्रह्म को जो आत्म-रूप से (अभेदबुद्धि से) जानते हैं, उनका न तो उत्क्रमण होता है और न तो कोई भिन्न वस्तु प्राप्त होती है अर्थात् वे मृत्यु के पश्चात् ही ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। अथवा 'अपि' शब्द का तात्पर्य यह है कि मद्याजी अर्थात् मुझ निर्गुण सत्ता के उपासक और सगुण भाव के उपासक दोनों ही मुझ परब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं किन्तु निर्गुण उपासक साक्षात् मुझको प्राप्त होते हैं और सगुण के उपासक (अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्म लोक में गमन कर) क्रम से मुझको प्राप्त होते हैं। विवेक, वैराग्य, संन्यास, शम, दमादि सम्पत्ति से युक्त होकर वेदान्त श्रवणादि से ब्रह्मज्ञान सुलभ है और उसके फल की प्राप्ति (मोक्षप्राप्ति) भी सुलभ है क्योंकि उसमें अर्चिरादि मार्ग से गमनादि का श्रम नहीं होता है। किन्तु प्रतिदिन श्रम से साध्य (किये जाने वाले) जप, होम, उपवास स्तोत्रपाठादि द्वारा तथा अतिदुष्कर श्राद्धनियम एवं अधिक धनका व्यय ही जिसमें प्रधान है एवं देह के आयास (परिश्रम) से साध्य जो क्रतु, यज्ञ, दान आदिरूप उक्त एवं अनुक्त क्रियाविशेषों से तथा बहुश्रम से जो फल स्वर्गादि लब्ध (प्राप्त) होने के योग्य है वह अल्पकाल-

स्थायी, विनाशशील, प्रतियोगी से (विघ्न से) युक्त है एवं संसार में पुनरावृत्तिका हेतु होता है। पण्डितों की भी उसमें ही काम, संकल्प, प्रयत्न तथा प्रवृत्ति देखने में आती है किन्तु जो ज्ञान एवं ज्ञानशास्त्र स्वल्पपरिश्रम से नित्यफल (मोक्ष) दे सकते हैं उनमें प्रवृत्ति नहीं होती है अहो, यही जगत् की मोह उत्पन्न करने वाली परमेश्वर की माया है, ऐसा ही हम लोगों का मत है।

(३) नारायणी टीका—जो लोग भेदबुद्धि से अन्य देवताओं का पूजन करते हैं वे भी भगवान् को ही अविधिपूर्वक (अज्ञानपूर्वक) पूजते हैं क्योंकि तात्त्विक दृष्टि से भगवान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, अतः तत्-तत् देवता के रूप में अखण्ड अद्वय परब्रह्मस्वरूप भगवान् ही विद्यमान है। किन्तु भिन्न भिन्न देवताओं के उपासक इस तत्त्व को नहीं जानते हैं एवं इस कारण से ही भगवान की उपासना का यथार्थफल (परमानन्दप्राप्तिरूप मोक्ष) उनको नहीं मिलता है। वे परिच्छिन्न (सीमित मूर्तिधारी) देवताओं की उपासना से परिच्छिन्न (अनित्य तथा विनाशशील) देवलोक को ही प्राप्त करते हैं। असली बात यह है कि जो जिसकी उपासना (निरन्तर श्रद्धा पूर्वक चिन्तन पूजन आदि) करता है वह उस उपास्य को ही प्राप्त होता है। [ब्रह्मा, विष्णु, राम, कृष्ण आदि देवताओं के उपासक अपने इष्टदेवता के सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य अथवा सायुज्य प्राप्त हो सकता है किन्तु जबतक देवताओं में भेदबुद्धि अथवा भगवान से देवताओं की पृथकत्वबुद्धि रहेगी तबतक अद्वैत निराकार निष्क्रिय नित्यशुद्धबुद्धमुक्त आत्मस्वरूप भगवान् का अपरोक्षसाक्षात्कार द्वारा मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।] जो पितरों का पूजन करता है वह पितरों को प्राप्त होता है अर्थात् पितरों के साथ मिलता है। उसी प्रकार विनायक, मातृकागण अथवा भूत, प्रेत, पिशाचादि का पूजन करने वाला तत्–तत् उपास्य को प्राप्त होता है अर्थात् मृत्यु के पश्चात् उस भूत प्रेतादि की स्वरूपता को प्राप्त होता है। और जो मुमुक्षु होकर सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वात्मा वासुदेव की उपासना करता है, वह नित्यमुक्त परमानन्दस्वरूप को ही प्राप्त होता है।

प्रश्न होगा इन सबकी उपासना में तो परिश्रम समान ही हैं तथापि देवताओं के, पितरों के तथा भूतों के उपासकगण क्षुद्र (अनित्य तथा अल्प) फल के लिये उनको पृथकरूप से क्यों पूजन करते हैं ? इसके उत्तर में कहा जायगा कि यद्यपि संसार में सब पदार्थ ही सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक इन तीन गुणों से मिश्रित हैं तथापि वस्तु तथा जीवों के भेदानुसार किसी में सत्त्वगुण की प्रधानता, किसी में रजोगुण की प्रधानता एवं किसी में तमोगुण की

प्रधानता रहती है। अतः अविधिपूर्वक (अज्ञानपूर्वक अर्थात् भेदबुद्धि से) पूजन करनेवाले भी तीन प्रकार के होते हैं। जो भक्त सत्त्वप्रधान अर्थात् सात्त्विक हैं वे देवताओं को, जो भक्त रजःप्रधान हैं वे पितरों को और नहीं तो यक्षरक्षों को एवं जो तमःप्रधान अर्थात् तामसिक हैं वे भूतप्रेत आदि का पूजन करते हैं। भगवान् स्वयं भी यही कहेंगे (गीता १७।४)। और जो निर्गुण भगवान् के भक्त हैं वे सर्वप्रपंच रहित(तुरीय)अद्वितीय परमात्मा के पूजन से उनके साथ एकत्व अनुभव कर ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होते हैं। यही उपासना या पूजन का परम फल है क्योंकि उसी अवस्था को प्राप्त कर मनुष्य कृतकृत्य होते हैं।

श्लोक में 'व्रत' शब्द का अर्थ है नियम, निष्ठा तथा भक्ति और 'माम्' शब्द का अर्थ है मुझ निर्गुण(सर्व उपाधिरहित)शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा को। सगुण ईश्वर की उपासना से साक्षात् रूप से परमानन्दस्वरूप भगवान् को अभिन्नरूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता है। सगुण भाव का उपासक अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक में गमन कर वहाँ ज्ञानप्राप्ति कर क्रमशः भगवान् के (परब्रह्म के) साथ एकत्व का अनुभव करते हैं अर्थात् क्रममुक्ति लाभ करते हैं—यह अष्टमाध्याय में विस्तार पूर्वक कहा गया है।

[कहने का अभिप्राय यह है कि किसी देवताविशेष की पूजा करना दोषरूप नहीं है। जो लोग भिन्न भिन्न देवता की पूजा करते हैं वे भी भगवान् की ही पूजा करते हैं। चूँकि भगवान् सर्वात्मा है इसलिए कोई भी देवता भगवान् से भिन्न नहीं हैं, अतः किसी भी देवता की उपासना भगवदुपासना से वहिर्भूत नहीं है। श्रुति भी ऐसा कहती है—'तदिदमाहुरमुं यज अमुं यजेत्येकैकं देवमेतस्येव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवाः' (बृह० उ० १।४।६) अर्थात् अमुक देवता की पूजा करो, अमुक देवता की अर्चना करो इत्यादि प्रकार से भिन्न भिन्न देवता की पूजा के सम्बन्ध में शास्त्रों में जो कहा गया है वे देवताएँ उनकी ही (परमेश्वर की ही) विसृष्टि (विभूतियाँ) हैं क्योंकि परमेश्वर ही सर्वदेवात्मक है।

ऋग्वेद में भी ऐसी उक्ति है 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निहुरथो दिव्यं स सुपर्णो गुरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः'॥ (ऋग्वेद १।१६४।४६) अर्थात् विज्ञ व्यक्तिगण एक सत्स्वरूप ब्रह्म को ही इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, गरुत्मान् नामक दिव्य सुपर्ण, यम मातारिश्वा प्रभृति नामों से अभिहित करते हैं। अतः बहुरूपों में ब्रह्म अथवा परमेश्वर ही एकमात्र सत्वस्तु है। वहु के मूल में जो एक सर्वयज्ञेश्वर भगवान् ही विराजमान है, इस तत्त्व का ज्ञान अथवा अनुभव न होते तक द्वैतबुद्धिवशतः

गतागतिरूप बहुत्व में ही रह जाते हैं अर्थात् कभी देवलोक कभी पितृलोक तथा कभी भूतलोक प्राप्त होकर संसार चक्र में गमन तथा आगमन करते हैं। इसलिये श्रुति में भी कहा गया है—'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (क० उ०) और जो लोग तत्त्वदृष्टि के द्वारा सर्वकारणों के कारण भगवान् ही एकमात्र पारमार्थिक तत्त्व है (द्वितीय कोई वस्तु नहीं है) एवं वे ही अविनाशी, अच्युत, सर्वयज्ञ के भोक्ता, एवं सर्वकर्म के फलदाता हैं, ऐसा जानते हैं उनको उस ज्ञान के द्वारा परमपद (मोक्षपद) प्राप्त होता है एवं एकबार जिसने उस पद को प्राप्त कर लिया है वह उससे और कभी च्युत (भ्रष्ट) नहीं होता है, यही २४ तथा २५ वें श्लोक का तात्पर्य है]।

[पूर्ववर्ती दो श्लोकों में कहा गया है कि अन्य देवता बुद्धि का त्याग कर स्वरूपसे एकमात्र भगवान् की आराधना करने से ही अनन्तफलस्वरूप परमपद अथवा मोक्ष प्राप्त होता है। अब भगवान कह रहे हैं कि मेरे भक्तों को केवल अनावृत्तिरूप (निर्वाणरूप) अनन्त फल मिलता है इतना ही नहीं, मेरी आराधना भी सुख से की जा सकती है। कैसे होता है सो कहते हैं—]

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

अन्वय—यः भक्त्या मे पत्रं पुष्पं फलं तोयं प्रयच्छति, प्रयतात्मनः (तस्य) भक्त्या उपहृतं तत् अहम् अश्नामि।

अनुवाद—भक्तिपूर्वक यदि कोई व्यक्ति पत्र, पुष्प, फल अथवा जल (अर्थात् जो वस्तु अनायास ही प्राप्त की जाती है उनको) मुझे अर्पण करे तो उस प्रयतात्मा (शुद्धबुद्धि) व्यक्ति के भक्तिपूर्वक अर्पण किये हुए उन वस्तुओं को मैं खाता हूँ अर्थात् ग्रहण करता हूँ।

भाष्यदीपिका—यः–जो कोई लोग भक्त्या—भक्तिपूर्वक अर्थात् 'वासुदेव की अपेक्षा श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है' इस प्रकार की बुद्धि से श्रद्धा तथा प्रेम के साथ मे—मुझ अनन्त विभूतियों के पति परमेश्वर को पत्रं पुष्पं फलं तोयम्—पत्र, पुष्प, फल, जल अथवा विना किसी प्रकार के परिश्रम (प्रयास) के प्राप्त होने वाली कोई दूसरी वस्तु प्रयच्छति—प्रदान (समर्पण) करते हैं अर्थात् स्वामी को सेवक के सामने भेट करते हैं [सकल वस्तुओं के रूप में मैं ही अवस्थित हूँ अतः सारा जगत् मेरे ही अधीन है इसलिये मनुष्य मेरी ही सारी वस्तुएँ मुझे समर्पण करते हैं तथापि मेरे भक्तगण प्रेम से

जो कुछ मुझे समर्पण करते हैं और मैं भी] प्रयतात्मनः (तस्य)— उस शुद्ध बुद्धि व्यक्ति के [पुष्प प्रभृति मुझको अर्पण करने के फल-स्वरूप वह व्यक्ति शुद्धचित्त हो जाता है। ऐसे शुद्धचित्त तपस्वी के] भक्त्या उपहृतं तत्—भक्ति के साथ अर्पित हुए उन पत्र-पुष्पादि तुच्छ पदार्थों को अहम् अश्नामि—मैं (सर्वेश्वर) ग्रहण करता हूँ [वह व्यक्ति मेरी आराधना कर रहा है, यह मैं अवधारण (स्वीकार) करता हूँ (आनन्द गिरि)] 'अश्नामि' पद का वाच्यार्थ है भोजन करना अर्थात् (क) भोजन करने के लिए जिस प्रकार पहले उसको स्वीकार अथवा ग्रहण करना पड़ता है मैं भी अपने भक्त के द्वारा अर्पित अति तुच्छ वस्तु को भी प्रीतिपूर्वक स्वीकार करता हूँ, (ख) भोजन करने से जैसी तृप्ति होती है मैं भक्ति के साथ अर्पित वस्तु से भी उसी प्रकार परितृप्त होता हूँ। श्रुति में भी कहा गया है 'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' अर्थात् देवता लोग न तो खाते हैं न पीते हैं वे केवल भक्ति पूर्वक निवेदित द्रव्य रूप अमृतको देखकर परितृप्त होते हैं। इससे भक्तों के द्वारा अर्पित हुई वस्तु में भगवान की अत्यन्त प्रीति रहती है यही प्रकाशित हो रहा है। वे द्रव्य अति तुच्छ होने से भी भगवान् क्यों ग्रहण करते हैं उसके उत्तर में भगवान ने कहा 'भक्त्या उपहृतम्' अर्थात् वह वस्तु यदि भक्ति-पूर्वक समर्पित हो तो मैं स्वीकार करता हूँ। अतः तात्पर्य यह है कि भक्ति से समर्पण ही मेरे स्वीकार का कारण है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—पूर्व श्लोक में भगवान् ने अपने भक्तों को अक्षय्य फल प्राप्ति की बात बताया अब अपनी भक्ति की अनायासता प्रदर्शन कर रहे हैं—पत्रं पुष्पं फलम् इत्यादि—जो भक्त मुझे भक्ति पूर्वक (प्रीति के साथ) केवल पत्र, पुष्प, फल समर्पण करते हैं उस संयतचित्त (शुद्ध-चित्त) निष्काम भक्त का वह भक्तिपूर्वक समर्पित पत्र पुष्पादि मैं प्रीति (प्रसन्नता) के सहित स्वीकार करता हूँ क्योंकि मैं तो महान् विभूति (ऐश्वर्य) का स्वामी परमेश्वर हूँ, अतः क्षुद्र देवताओं के समान बहुत द्रव्यसाध्य यज्ञयागादि कर्म द्वारा मेरा सन्तोष नहीं होता है किन्तु भक्तिमात्र से ही मैं सन्तुष्ट होता हूँ। इसलिये मैं भक्तों के द्वारा समर्पित हुए सामान्य पत्रपुष्पमात्र भी उन पर अनुग्रह करने के लिये खा लेता हूँ अर्थात् स्वीकार कर लेता हूँ।

(२) शंकरानन्द—अधिकारी महात्माओं को ब्रह्मज्ञान सुलभ है और उसका फल जो अनावृत्तिरूप, अनन्त अखण्ड अद्वय आनंद नामक मोक्ष है वह भी अत्यन्त सुलभ है किन्तु अनधिकारी मन्दबुद्धि सम्पन्न मुमुक्षुओं को वह फल प्राप्त करने के लिये किस प्रकार की गति होगी ? इसप्रकार

शंका होने पर भगवान् कहते हैं कि आरुरुक्षु भक्त सत् पुरुषों को भी मैं सुलभ ही हूँ—

यो मे पत्रं पुष्पं फलं तोयं भक्त्या प्रयच्छति—जो मुमुक्षु भक्ति तथा श्रद्धापूर्वक पत्र, पुष्प, फल या जल शालग्राम में या मेरी अन्य प्रतिमा में मुझको उद्देश्य कर देता है **प्रयतात्मनः तद् भक्त्या उपहृतम् अहम् अश्नामि**—उस प्रयतात्मा के (शुद्धवृत्ति वाले के) द्वारा निष्कपट भक्ति से समर्पित उस पदार्थ को मैं परमेश्वर प्रकृष्ट रूप से (सम्यक् प्रकार से) भोग करता हूँ (ग्रहण करता हूँ अर्थात् उससे ही सन्तुष्ट हो जाता हूँ। 'धिगनीशार्चनं जननं' (जो ईश्वर नहीं है उसकी पूजा करने वाले के जन्मको धिक्कार है), इस श्रुति के अनुसार ईश्वर के आराधन न करने वाले पुरुष का जन्म निष्फल है, ऐसा सुना जाता है एवं ईश्वर का आराधन षट्कर्म के अन्तर्गत होने के कारण मुमुक्षु को ईश्वर का आराधन अवश्य कर्तव्य है यह सूचित होता है। अथवा 'अभ्यागतः स्वयं विष्णुः' इस स्मृति वचन के अनुसार यथा समय पर प्राप्त हुए अतिथि भी मद्रूप (मेरा रूप ही) हैं, अतः इसप्रकार अतिथि के लिये पत्त (पका हुआ शाक) फल या पुष्प (यहाँ पुष्प शब्द से अपकफल कहा जा रहा है) अथवा पक्व फल या जल (गृहस्थ जिसको स्वयं खाता है उसको) भक्ति से और श्रद्धा से जो देता है [दान ही गृहस्थ का कर्तव्य है इस नियम से जो गृहस्थ स्वधर्मनिष्ठ है तथा भूतों के प्रति दया करने वाला है एवं शुद्धान्तःकरणविशिष्ट है] उसके द्वारा शुद्धभक्ति से ब्राह्मण के मुख में समर्पित किये हुए पत्र या जल द्रव्य को मैं (परमेश्वर) साक्षात् उस अतिथि के मुख से खाता हूँ।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में कहा गया है कि मुझ भगवान् का जो पूजन करते हैं वे मुझे ही प्राप्त कर लेते हैं। भगवत्प्राप्ति और मोक्षप्राप्ति एक ही बात है। अब शंका हो सकती है कि जब भगवान् के पूजन का फल इतना अधिक है तब अवश्य ही वह पूजन अत्यन्त परिश्रम से एवं बहुत धनव्यय से करना होगा। इसके उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं—नहीं, तुच्छ से तुच्छ तथा अनायास लभ्य (अर्थात् विना कोई विशेष परिश्रम के प्राप्त होनेवाली) वस्तुओं से भी मेरी आराधना तथा तृप्ति हो सकती है। पत्र, पुष्प, फल, तोय (जल) इत्यादि अति तुच्छ एवं सर्वत्र अनायासलभ्य वस्तु से भी यदि कोई शुद्धबुद्धि व्यक्ति भक्ति (प्रेम) पूर्वक मेरा पूजन करे तो उनकी भक्ति सहित अर्पित वस्तु को मैं साक्षात् भक्षण करता हूँ अर्थात् स्वीकार करके भोजन करने से जिस प्रकार की तृप्ति होती है उसीप्रकार मैं भी तृप्तिलाभ

करता हूँ। श्लोक में 'भक्त्या' शब्द का दो बार प्रयोग कर भगवान् यही दृढ-भाव से निश्चय कर रहे हैं कि भक्तिरहित होकर अत्यन्त परिश्रम से एवं बहुतधनव्यय से संगृहीत अति उत्तम पदार्थ द्वारा भी यदि मेरा पूजन किया जाय तो वह मैं नहीं ग्रहण करता हूँ—भोजन करना तो दूर की बात है। मैं तो भावग्राही जनार्दन हूँ—प्रेम का ही भिखारी हूँ और प्रेमी भक्तों का ही दास हूँ—नहीं तो मुझ सृष्टिस्थितिप्रलयकर्ता पूर्णकाम भगवान् को कौन वस्तु का अभाव है ? जिसकी प्राप्ति से मेरी प्रीति (सन्तोष) हो सकती है। भक्ति ही मेरे स्वीकार तथा सन्तोष का कारण है। इस भक्ति के प्रभाव से ही मैंने दुर्योधन के घर का 'मेवा' छोड़कर विदुर के घर में शाक खाया था। यहाँ 'भक्ति' शब्द से 'प्रेमाभक्ति' या 'अनन्याभक्ति' या 'पराभक्ति' को भगवान् सूचित कर रहे हैं क्योंकि इसप्रकार की भक्ति के साथ पत्रपुष्पादि से [अथवा विना कोई सामग्री के] भगवान् का पूजन करने से भी भगवान् प्राप्त हो सकते हैं (मद्याजिनोऽपि माम्—गीता ९।२५)। अतः 'भक्त्या' शब्द का अर्थ है—जिस प्रयतात्मा पुरुषने (शुद्धिबुद्धि अर्थात् साधनचतुष्टयसम्पन्न पुरुष) वेदान्त-वाक्यादि के श्रवण तथा मनन से यह निश्चय किया है कि सर्वत्र एक ब्रह्म-स्वरूप आत्मा ही विद्यमान है—मायारचित अर्थात् कल्पित जगत्प्रपञ्च उस आत्मा को अधिष्ठान कर स्वयं सत्ताहीन होते हुए भी इन्द्रजाल के समान प्रतीत हो रहे हैं, अतः उस ब्रह्मस्वरूप आत्मा के विना और सब कुछ मिथ्या होने के कारण आत्मा को ही जानना एवं आत्मा में ही रमण करते हुए आत्मानन्द होना ही मनुष्य जीवन का परमपुरुषार्थ है। वह आत्मा ही भगवान् है, वही परमात्मा है वही सर्वेश्वर एवं सर्वान्तर्यामी है, अतः अन्य कुछ भी नहीं है जो चिन्तन करने के योग्य है। इसप्रकार भगवान् को आत्मा के रूप से जबतक नहीं देखा जाय तबतक यथार्थ प्रेम या भक्ति कभी हो नहीं सकती क्योंकि आत्मा ही सबसे प्रियतम है [बृहदारण्यक उपनिषद् में मैत्रेयी-याज्ञवल्क्य संवाद (द्वितीयाध्याय चतुर्थब्राह्मण द्रष्टव्य)]। श्रुति फिर कहती है—"प्रेयःपुत्रात् प्रेयोवित्तात् प्रेय एतस्मात् सर्वस्मात्" अर्थात् यह आत्मा, पुत्र से भी प्रिय, वित्त से भी प्रिय, जगत् में सबसे प्रिय जो प्रियतम है उसका ही निरन्तर स्मरण होता है (गीता ८।७), वही एकमात्र सत्य वस्तु होने के कारण उसके लिये ही अनन्यचिन्तन रहता है (गीता ९।२२), प्रियतम आत्मा को जान लेने पर यह भी ज्ञात होता है कि वह मेरा यथार्थ 'मैं' है, अतः उससे पृथक् रहना असम्भव है, इसलिये ज्ञानी आत्मा में नित्य (सतत) युक्त रहता है (गीता ९।२२।१०।१०) इसप्रकार ब्रह्मस्वरूप आत्मा को समान-

रूप से सर्वत्र (सर्वभूतों में) अनुभव कर आत्मा के अतिरिक्त अन्य वस्तु की कामना से रहित होता है, अतः शोक से भी शून्य होकर आत्मरति होता है। वही पराभक्ति है (गीता १८।५४), वही अनन्याभक्ति या प्रेमाभक्ति है। इस प्रकार भक्ति से जो कुछ भक्त देता है या करता है वह भगवान् में ही पहुँच जाता है एवं भगवद्स्वरूप ही हो जाता है, यही 'अश्नामि' पद का तात्पर्य है अर्थात् खाद्यपदार्थ जिसप्रकार भुक्त होने के पश्चात् भोक्ता के साथ एक हो जाता है, उसीप्रकार अनन्य भक्ति से अर्पित हुए सब पदार्थ भगवान् के साथ एक हो जाता है (भगवत्स्वरूप हो जाता है) यही कहने का अभिप्राय है (गीता ४।२४)। इसप्रकार की भक्ति प्रयतात्मा (शुद्धचित्त) पुरुष के लिये अर्थात् जो अपने आश्रमविहित कर्म आदि का निष्काम भाव से भगवदर्पण-बुद्धि से अनुष्ठान करके साधनचतुष्टयसम्पन्न हुये हैं उनके लिये ही सम्भव है। इसलिये भगवान् ने कहा है—प्रयतात्मनः। बाह्य पुत्र, पुष्पादि के विना अन्तर्जगत् के पत्र, पुष्पादि द्वारा ही भगवान् के अनन्य भक्त लोग भगवान् का निरन्तर पूजन करते हैं। इसप्रकार पूजन ही निरन्तर करना सम्भव है किन्तु स्थूल पत्र पुष्पादि से सतत पूजन करना सम्भव नहीं है। अनन्य भक्त की दृष्टि से मायारचित नामरूपात्मक विषयों के सम्बन्धी चित्तवृत्तियाँ ही माया-वृक्ष के पत्र हैं, शास्त्रविहित शुभ कर्मसमूह ही इस वृक्ष के पुष्प है, कर्मों का फल ही इस वृक्ष के फल हैं और विषयरस (विषयों के लिये आसक्ति) ही तोय (जल) है। जब प्रेमाभक्ति (अनन्या भक्ति से) भगवान् में वे सब अर्पित होते हैं तब जीवत्व भी ब्रह्मत्व में अर्पित होकर (भगवान् के उदर में प्रवेश कर) सब एकाकार हो जाते हैं। यही भगवान् का यथार्थ आहार (भोजन) है। श्रुति भी कहती है—

"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(मु. उ. ३।२।८)

[अर्थात् जिसप्रकार नदियाँ नामरूप का त्याग कर समुद्र में निमग्न होकर समुद्र के साथ एकता प्राप्त कर लेती है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञ पुरुष भी नाम-रूप से विमुक्त होकर अव्याकृत (प्रकृति या माया) की अपेक्षा श्रेष्ठ स्वप्रकाश परमात्मा को प्राप्त होते हैं]।

'प्रयतात्मा' किस प्रकार से होना सम्भव होता है एवं अनन्याभक्ति किस प्रकार से उत्पन्न होती है तथा उसका फल क्या है ? यह परवर्ती श्लोकों में कहा जा रहा है।

[मधुसूदन सरस्वती कहते हैं—यहाँ भक्त्या प्रयच्छति (भक्तिपूर्वक समर्पण करता है) ऐसा कह कर फिर 'भक्त्युपहृतम्' (भक्तिपूर्वक समर्पण किये हुए) इस प्रकार कहते हुवे इस परिसंख्याविधि की सूचना देते हैं कि कोई ब्राह्मण अथवा तपस्वी भी यदि अभक्त हो तो उनके द्वारा समर्पित हुई वस्तु का स्वीकार भगवान् नहीं करते हैं। किन्तु भक्त चण्डाल से प्रेम पूर्वक अर्पित हुई वस्तु भी भगवान् ग्रहण करते हैं। भक्ति (प्रेम) पूर्वक समर्पण ही भगवान के स्वीकार का कारण है, इस लिए श्लोक में दो बार भक्ति शब्द का प्रयोग किये हैं।] भक्त सुदामा के अत्यन्त दरिद्र होने पर भी उनके द्वारा समर्पित किये हुए चावल के कण खा कर भगवान् को कितनो प्रीति हुई थी वह तो अभक्त महाधनवान लोग मन में सोच भी नहीं सकते। माता के विशेष प्रेम से मुग्ध होकर बालक जिस प्रकार उनके द्वारा अर्पित हुए पदार्थ "भोजन के योग्य हैं कि नहीं" इस प्रकार विचार (विवेक) करने का सामर्थ्य खो देता है, उसी प्रकार भगवान भी भक्त की जाति, वर्ण, दरिद्रता आदि का विचार न कर उनसे भक्तिपूर्वक समर्पित पत्र-पुष्पादि को साक्षात् हो भक्षण (स्वीकार) करते हैं। अतः भगवान के कहने का अभिप्राय यह है कि—मेरे सन्तोष का कारण तो भक्ति ही है—दूसरे देवताओं के समान बहुत से धनव्यय और परिश्रम से दिये जा सकने वाले कोई बलि या उपहार आदि मेरे लिए आवश्यक नहीं हैं। अतः दूसरे देवताओं को छोड़ कर मेरा ही भजन करो [अर्थात् यद्यपि मैं ही सर्व मूर्तिओं में विराजमान हूँ तथापि इस यथार्थ तत्त्व को भूल कर अज्ञान पूर्वक देवता विशेष की मूर्ति की भेदबुद्धि से आराधना न कर साक्षात् रूप से मुझ गुणातीत अखण्डाद्वितीय अनन्त सच्चिदानन्दस्वरूप का पूजन (अर्थात् निरन्तर स्मरण) करते हुए सर्व श्रेष्ठ कल्याण (मोक्ष) की प्राप्ति के लिये ही प्रयत्न करो।]

[प्रयतात्मा होकर भक्ति से तुम्हारा पूजन करने का सहज उपाय क्या है ?—सो कहते हैं]।

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

अन्वय—हे कौन्तेय ! यत् करोषि यत् अश्नासि यत् जुहोषि यत् ददासि यत् तपस्यसि तत् मदर्पणं कुरुष्व।

अनुवाद—हे कुन्तिनन्दन! तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ भोजन करते हो, जो कुछ हवन करते हो, जो कुछ दान करते हो, एवं जो तप करते हो उन सबको ही मुझे अर्पण कर दो।

भाष्यदीपिका—हे कौन्तेय !—तुम कुन्ती के पुत्र अर्जुन हो। कुन्ती सब कुछ मुझे ही समर्पण करती थी एवं इसके फलरूप से समस्त दुःखों से मुक्त हो गई थी। तुम भी समस्त कर्म मुझमें ही समर्पण करके इस संसार-रूप दुःखसागर से मुक्त हो जाओगे—ऐसा उत्साह देने के लिए श्रीभगवान् ने यहाँ 'कौन्तेय' कहकर सम्बोधन किया। यत् करोषि—जो कुछ तुम करते हो। अर्थात् शास्त्रविहित कर्मों के अतिरिक्त स्वतः (रागतः) प्राप्त (स्वभाव की प्रेरणा से) जो गमनादि क्रिया भी तुम कर रहे हो यत् अश्नासि—स्वतः प्राप्त जो वस्तु तुम भोजन करते हो [स्वयं अपनी तृप्ति के लिए अथवा शास्त्रीय कर्मसिद्धि के लिए जो कुछ तुम भोजन कर रहे हो (मधुसूदन) अथवा जो कुछ विषय का भोग कर रहे हो। (आनन्दगिरि)]।

यत् जुहोषि—जो कुछ श्रौत (वेदविहित) अथवा स्मार्त स्मृतिशास्त्र-विहित) यज्ञरूप हवन करते हो [श्रौत तथा स्मार्त विधान न मानकर स्वेच्छा से अग्नि में घृताहुति देते रहने पर उसको हवन नहीं कहा जाता है।] यत् ददासि—जो कुछ दान करते हो अर्थात् अतिथि ब्राह्मण आदि को हिरण्य (सुवर्ण), अन्न, घृतादि वस्तु दान देते हो यत् तपस्यसि—जो कुछ तप का आचरण करते हो [प्रत्येक संवत्सर में विना जाने हुए और भूल से किये हुए पापों की निवृत्ति के लिये जो कुछ चान्द्रायणादि तप करते हो अथवा उच्छृङ्खल प्रवृत्ति की निवृत्ति के लिये शरीर एवं इन्द्रियसमूह का जो संयम करते हो (मधुसूदन)] तत् कुरुष्व मदर्पणम्—उन समस्त नित्यनैमित्तिक कर्मों को मुझे समर्पण करो [शास्त्राज्ञा के विना भी प्राणिस्वभाववश अवश्य होनेवाले जो तुम्हारे भोजनादि व्यापार हैं एवं शास्त्रविधान के अनुसार अवश्य कर्तव्य होमदानादि हैं, हे कौन्तेय ! वे समस्त वैदिक तथा लौकिक कर्म दूसरी प्रयोजनसिद्धि के लिये किये जानेपर भी जैसे मुझे समर्पित हो जाँय वैसे करो। 'कुरुष्व' इस आत्मनेपद के प्रयोग से यह दिखाते हैं कि समर्पण का फल समर्पण करनेवाले को ही मिलता है, मुझे (परमात्मा को) कुछ भी नहीं मिलता। अभिप्राय यह है कि अवश्य होनेवाले कर्मों को मुझ परम गुरु को समर्पण कर देना ही मेरा भजन है। मेरे भजन के लिये और कोई पृथक् व्यापार करना आवश्यक नहीं है। (मधुसूदन)]

टिप्पणी। (१) श्रीधर–यज्ञ के लिये पशु, सोमरस इत्यादि पदार्थों का जिस प्रकार परिश्रमपूर्वक संग्रह करना पड़ता है, उसी प्रकार पत्र-पुष्पादि पदार्थ भी परिश्रमपूर्वक संग्रह करके मुझे समर्पण करना आवश्यक नहीं है, यही भगवान् के अबतक के कथन का अभिप्राय है। प्रश्न होगा तब आप के लिये क्या करना होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं—

यत् करोषि यद् अश्नासि इत्यादि—हे कौन्तेय! स्वभाव से या शास्त्रानुशासन से तुम जो कुछ कर्म करो तथा जो कुछ आहार करो, जो कुछ अग्नि में आहुति दो (होम करो), जो कुछ तपस्या करो—वे सब जिस प्रकार मुझे अर्पित हो जाय वैसे ही करो।

(२) शंकरानन्द—श्रीभगवान् (अब कहते हैं—यही कारण है कि मैं साधु व्यक्तियों की भक्ति से सुलभ हूँ, इसलिये जो जो कर्म तुम करते हो, उन सबको मुझे अर्पण करो—

यत् करोषि—जो लोकाचार से अविरुद्ध तथा शास्त्र में विहित लौकिक कर्म तुम करते हो और यत् अश्नासि—जो शास्त्रसिद्ध तथा अनायासलब्ध अन्न को तुम खाते हो और यत् जुहोषि—जो चरुपुरोडाश आदि होम करने के योग्य वस्तुओं का अग्नि में देवताओं के उद्देश्य से हवन करते हो और यत् ददासि—जो सत् पात्रों में अन्न, जल, धान्य, कन्या, गौ आदि उत्तम वस्तु तुम देते हो और यत् तपस्यसि—जो संध्यावन्दन आदि, वेदाध्ययन आदि अथवा व्रत, उपवास आदि तप तुम करते हो अर्थात् लौकिक तथा वैदिक जो जो कर्म करते हो तत् कुरुष्व मदर्पणम्—उन सबको मुझे अर्पण करो अर्थात् ब्रह्मार्पणबुद्धि से ही सब कर्म करो।

(३) नारायणी टीका—पूर्व श्लोकोक्त पत्र, पुष्प फल इत्यादि से ही भगवान की पूजा होती है, ऐसा नहीं समस्त लौकिक तथा वैदिक कर्मों से ही उनकी पूजा करना चाहिए। इसलिये भगवान् कह रहे हैं कि जो कुछ करो, जो कुछ भोजन करो, जो कुछ होम करो, जो कुछ दान करो, जो कुछ तपस्या करो यह सब मुझे अर्पण करो। श्लोक में 'यत् करोषि', 'यदश्नासि' (जो कुछ करो और जो कुछ भोजन करो) इत्यादि से लौकिककर्मों को तथा 'जुहोषि, ददासि तपस्यसि' इत्यादि शब्दों से वैदिककर्मों को सूचित किया गया है। प्रश्न होगा कर्म तो जीव स्वयं अपने लिये ही करता है, अतः उन सब कर्मों का भगवान में समर्पण किस प्रकार से किया जा सकता है? इसके उत्तर में भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि मैंने तो पहले ही स्पष्ट-रूप से कहा कि प्रति शरीर में मैं ही यज्ञपुरुष (अधियज्ञ) हूँ, समस्त देवता मेरी ही अंगभूत होने के कारण मैं ही अधिदैवत हूँ और मेरा स्वभाव ही अध्यात्म (प्रत्यक् चैतन्यभाव) है [गीता ८।२-३] मैं ही सबका आत्मा हूँ एवं मैं ही सर्वकर्मों का प्रेरक (अन्तर्यामी महेश्वर) हूँ तथा सभी कर्मों का भोक्ता भी मैं ही हूँ (गीता ५।२९) क्योंकि चेतन आत्मा के लिये ही समस्त प्राणी कर्म करते हैं। अतः "सर्वकर्म मुझे समर्पण करो" इसका तात्पर्य यह

है कि समस्त कर्म करते हुए मुझे सर्वकारकरूप से (कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण रूप से) स्वीकार करो (गीता ४।२४)। जो चैतन्यस्वरूप यज्ञपुरुष सबकी आत्मा है वही इस जड़ शरीर से गमन कर रहे हैं, आहार कर रहे हैं एवं अन्यान्य सर्व कर्म कर रहे हैं, इस प्रकार की भावना द्वारा भक्त अपनी सत्ता को भगवान की सत्ता में विलय कर देता है। इसे ही सभी कर्मों का भगवान में पूर्ण समर्पण कहा जाता है क्योंकि इस प्रकार समर्पणबुद्धि से कर्म करते हुए भक्तों के कर्तृत्वाभिमान तथा फल की आकांक्षा नही रह सकती है। अतः परवर्ती श्लोक में उक्त मुक्ति (कर्मबन्धन से मुक्ति तथा भगवत्प्राप्ति) भी अनायास लब्ध होती है।

[इस प्रकार से यदि मुझे सर्वकर्मों का समर्पण कर मेरा भजन करो तो तुम्हें क्या फल प्राप्त होगा, यह अब मैं कह रहा हूँ, सुनो—]

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

अन्वय—एवं (सति) शुभाशुभफलैः कर्मबन्धनैः मोक्ष्यसे (तथा) संन्यास-योगयुक्तात्मा (सन्) विमुक्तः माम् उपैष्यसि।

अनुवाद—ऐसा करने पर (मुझे सर्वकर्म समर्पण कर) शुभाशुभ फलरूप कर्म बन्धन से तुम मुक्त हो सकोगे एवं इस प्रकार सर्व कर्म समर्पण रूप संन्यास योग से युक्त (शोधित) अन्तः करण वाला होने के कारण (जीवितावस्था में ही) विमुक्त हो सकोगे एवं (देहपात के बाद) मुझको ही प्राप्त हो जाओगे।

भाष्यदीपिका—एवं (सति)—ऐसा करने से अर्थात् मेरी सर्व-कर्म का समर्पण पूर्वक आराधना करने पर। शुभाशुभफलैः कर्मबन्धनैः मोक्ष्यसे—शुभ (इष्ट) अशुभ (अनिष्ट) फल जिनका होता है उनका नाम शुभाशुभ फल है। शुभाशुभ फल कहने से शुभाशुभ फल का हेतु शुभ तथा अशुभ कर्मों को ही सूचित कर रहे हैं। वैसे, कर्म ही बन्धन का हेतु होते हैं (क्योंकि शुभकर्म के फलस्वरूप देवयोनि एवं अशुभ कर्मफल के फलस्वरूप तिर्य्यगादि योनि एवं शुभाशुभ मिश्रित कर्म के फलस्वरूप मनुष्ययोनि प्राप्त होती है। अतः शुभ तथा अशुभ दोनों ही बन्धन के कारण हैं।) जिस प्रकार पूर्व श्लोक में कहा गया है उस प्रकार मुझमें कर्म समर्पण करते रहने पर शुभाशुभ फलमुक्त कर्मों के बन्धन से मुक्त होओगे (छूट जाओगे) अर्थात् कर्म मुझमें समर्पित होने पर उन कर्मों के साथ तुम्हारा और कोई संसर्ग

(सम्बन्ध) नहीं रहेगा, अतः शुभ अथवा अशुभ फलों से तुम्हारा संसर्ग नहीं होगा अर्थात् कर्म के बीज तुममें नहीं रहने के कारण कर्म के फल के रूप से जो जन्म, मृत्यु अथवा भोग तुम्हें प्राप्त होने वाले थे उसके साथ तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। अतः इस प्रकार से कर्म बन्धन अर्थात् संसार बन्धन से मुक्त हो जाओगे। संन्यासयोगयुक्तात्मा—यह संन्यासयोग है अर्थात् यह संन्यास होकर भी योग है। समस्त कर्मों को भगवान् में समर्पण करने के कारण इसे संन्यास कहा जाता है, क्योंकि संन्यास शब्द का अर्थ है भगवान के लिये कर्म तथा कर्मफल का सम् (सम्यक्) न्यास (त्याग) पुनः वही संन्यास (समर्पण) योग भी है क्योंकि योग से जिस प्रकार चित्त का विक्षेप दूरी भूत होकर चित्त शुद्धि होती है, उसी प्रकार भगवान् में समर्पण-बुद्धि से कामना शून्य होकर कर्म करने से भी चित्त का विक्षेप दूरीभूत होकर चित्तशुद्धि होती है। अतः जो संन्यास है, वही निष्काम कर्मयोग है (गीता ६।१२)। उस संन्यासरूप योग के द्वारा जिसको आत्मा (अर्थात् अन्तः करण) युक्त (भगवान में सदा समाहित) रहती है [अथवा युक्त (शोधित) होती है (मधुसूदन)] उसको संन्यासयोग-युक्तात्मा कहा जाता है। तुम भी ऐसा संन्यासयोग युक्तात्मा होकर विमुक्तः—जीवित रहते हुए ही समस्त कर्म बन्धनों से मुक्त होकर सम्यग् ज्ञान से अज्ञान रूप आवरण की निवृत्ति हो जाने से मुझे प्राप्त होंगे अर्थात् मैं 'ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अपने आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार करोगे एवं प्रारब्ध कर्म का क्षय होने से इस शरीर का पतन होने पर (अर्थात् मृत्यु के पश्चात्) माम् उपैष्यसि—मुझको अर्थात् 'सर्वप्रपंचोपशमम् शिवम् शान्तम् आत्मानम्' (सर्वप्रपंचरहित कल्याण स्वरूप नित्यशुद्धबुद्ध मुक्त शान्त अद्वय मुझको) अर्थात् विदेह कैवल्य रूप मुझको प्राप्त हो जाओगे।

[इस समय भी तुम मद्रूप ही हो (अर्थात् जिस प्रकार मैं नित्यमुक्त हूँ स्वरूप से तुम भी उसी प्रकार ही हो। अतः समस्त उपाधियों की निवृत्ति हो जाने से मायिक भेदव्यवहार के विषय नहीं होओगे—यही कहने का अभिप्राय है। (मधुसूदन)]

टिप्पणी। (१) श्रीधर—इस प्रकार मुझे सब कर्मों को अर्पित करने से जो फल प्राप्त होगा वह श्रवण करो-एवं कर्मबन्धनैः शुभाशुभफलैः मोक्ष्यसे—इस प्रकार कर्म करने पर तुम कर्म बन्धन से अर्थात् कर्मों के निमित्त से प्राप्त होने वाले शुभ (इष्ट) तथा अशुभ (अनिष्ट) फलों से मुक्त हो जाओगे क्योंकि कर्मों को मुझमें समर्पित कर देने के कारण उन

कर्मों का तुमसे कोई सम्बन्ध रहना सम्भव नहीं है। (तैः) विमुक्तः—इस प्रकार कर्म फल के सम्बन्ध से विमुक्त होकर संन्यासयोगयुक्तात्मा—संन्यास-रूप योग से कर्मों का मुझे सम्यक् प्रकार न्यास (त्याग) अर्थात् समर्पण करने पर जो योग (अर्थात् मेरे साथ एकत्व बुद्धि) उत्पन्न होता है उससे] युक्तात्मा होकर अर्थात् आत्मा को (अन्तः करण को) मुझमें युक्त कर माम् प्राप्स्यसि—मुझे प्राप्त होओगे।

(२) शंकरानन्द–श्रौत या स्मार्त या अन्य कर्म का ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठान जो करते हैं उनको क्या फल प्राप्त होता है ? उसे कहते हैं—एवं—इस प्रकार ईश्वरार्पण बुद्धि से वैदिक एवं अवैदिक (लौकिक) युक्त (नीति तथा धर्म के अविरुद्ध) कर्म करते हुए शुभाशुभफलैः कर्मबन्धनैः—शुभ एव अशुभ फलों से अर्थात् सुखदुःखप्रद स्वर्ग नरक के हेतुभूत कर्मरूप बन्धन से मोक्ष्यसे—मुक्त हो जाओगे। (प्रश्न) 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है), 'नियतं कुरु कर्म त्वम्' (तुम विहित कर्म करो), 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' (स्वधर्म के प्रति दृष्टि रखकर भी) इत्यादि वाक्यों से तुमने विहित कर्मों का कर्तव्य रूप से विधान किया। उन विहित कर्मों का फल अशुभ कैसे होगा ? (उत्तर) इस प्रकार शंका युक्त नहीं है क्योंकि अनुष्ठान का वैकल्य होने पर भी विहित कर्म अशुभ फलप्रद हो सकते हैं। श्रुतिशास्त्रों में भी यही कहा है—'यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासम-चातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च। अहुतमवैश्वदेवमविधिनाहुतमासप्त-मांस्तस्य लोकान्हिनस्ति॥" (जिसका अग्निहोत्र दर्श-पौर्णमास, चातुर्मास्य और आग्रयण से रहित और अतिथि से रहित हो तथा जिसमें हवन नहीं किया हो जो वैश्वदेवरहित हो अथवा विधि से रहित हवन किया हो, तो वह अग्निहोत्र उसके सात लोकों को नष्ट कर देता है); 'स वागवज्रो यजमानं हिनस्ति' (वह वाणीरूप वज्र होकर यजमान का नाश कर देता है) स्मृति भी कहती है कि मन्त्र, तन्त्र, स्वर, वर्ण, द्रव्य, काल आदि नियम के विपरीत होने पर अथवा वह नियम स्खलित या भ्रष्ट होने पर विहित कर्म से भी अशुभ फल की उत्पत्ति होती है—यह युक्तियुक्त है। [काम्य कर्म में ही इस प्रकार होता है—मोक्ष के लिये किये हुए कर्म से ऐसा नहीं होता] इस लिये 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते' (गीता २।४०) मोक्ष के लिये किये गये कर्म का उपक्रम अर्थात् आरम्भ निष्फल नहीं होता है एवं ज्ञान या अज्ञान से उसके अनुष्ठान में कुछ वैकल्य रहने पर भी कुछ प्रत्यवाय अर्थात् पाप नहीं होता], इस न्याय से इश्वरार्पण बुद्धि से तथा श्रद्धाभक्ति से

अनुष्ठित कर्मों का विपर्यास (वैकल्य) होने पर भी प्रत्यवाय (दोष) आदि का सम्भव नहीं है। तथा संन्यासयोगयुक्तात्मा—संन्यास शब्द का अर्थ है परमेश्वर में कर्मफल का त्याग (समर्पण)–वही योग है क्योंकि [उससे परमेश्वर के साथ नित्य योग रहता है अतः] वह कर्मबन्धन से मुक्ति प्राप्त होने का उपाय होता है। उस संन्यासयोग में (सर्वकर्म फल त्याग में ही जिसकी आत्मा (मन) युक्त (आसक्त) है वह 'संन्यासयोगयुक्तात्मा' है। इस प्रकार संन्यासयोगयुक्तात्मा होकर तुम् विमुक्तः माम् उपैष्यसि— कर्म बन्धनों से विमुक्त होकर क्रम से मुझ परमात्माको प्राप्त होओगे अर्थात् विदेह मुक्ति प्राप्त होओगे। अथवा इस प्रकार भी इसका अर्थ किया जा सकता है–कर्म के फल की सिद्धि और असिद्धि में समभाव रखकर ईश्वरार्पण बुद्धि से अर्थात् इस कर्म से मेरे ऊपर ईश्वर प्रसन्न होंगे, इस प्रकार की कामना से भी रहित होकर नित्य और नैमित्तिक कर्म करते हुए अपने द्वारा अनुष्ठित सत् कर्मों से जो चित्तशुद्धि उत्पन्न होगी उससे विज्ञान (आत्मतत्त्व का ज्ञान) प्राप्त कर संन्यासयोगयुक्तात्मा–['मैं कर्ता नहीं हूँ मैं पूर्णरूप से कूटस्थ असंग हूँ' इस प्रकार के विज्ञान द्वारा अपने में उस संचितादि सब कर्म के सम्बन्ध का अभाव अपनी आत्मा में दर्शन करने को 'संन्यासयोग' कहते हैं। उस संन्यासयोग में अर्थात् उस संचित, आगामी, वर्तमान सब कर्म तथा उनके कर्ता आदि सम्बन्ध के अभावको देखने में ही जिसकी आत्मा (मन) युक्त (समाहित) है, वह संन्यासयुक्तात्मा है। इस प्रकार संन्यास–योगयुक्तात्मा होकर शुभाशुभफलैः कर्मबन्धनैः मोक्ष्यसे—शुभ तथा अशुभ कर्मों के फलरूप से सुखदुःखरूप स्वर्गनरक प्राप्त होते हैं। अतः कर्म ही बन्धन है (कर्म अर्थात् पुण्य, अपुण्य, तथा पुण्यापुण्यमिश्रितरूप संचित आदि कर्मों के द्वारा ही पुरुष जन्मादि से बाँधा जाता है, अतः वे बन्धन हैं) उन कर्मरूप बन्धनों से छूट जाओगे। एवं विमुक्तः सन् माम् उपैष्यसि—इस प्रकार विमुक्त (संन्यासयोगद्वारा कर्मबन्धनों से विमुक्त होकर मुझको (निर्विशेष परब्रह्म को) अन्तराल के विना ही (समय के व्यवधान के विना ही अर्थात् मृत्यु के पश्चात् ही) प्राप्त हो जाओगे (विदेहकैवल्य को प्राप्त होओगे)।

(३) नारायणी टीका—पूर्व श्लोक में आहार विहारादि सर्व कर्म भगवान् में अर्पण करने के लिये भगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया। अब उस प्रकार के अर्पण का फल क्या है? यह कह रहे हैं। लौकिक तथा शास्त्रविहित समस्त कर्मों में कर्तृत्वाभिमान त्याग कर अर्थात् हृदयस्थित अन्तर्यामी भगवान की प्रेरणा से मैं कर्म कर रहा हूँ एवं इन कर्म तथा कर्मफल द्वारा ही मैं

उस अन्तर्यामी भगवान को पूजा करूँगा इस प्रकार की भावना से भावित होकर ईश्वरार्पणबुद्धि से समस्त कर्म निष्काम भाव से करते रहने पर उन कर्मों में कर्तृत्वबोध तथा फलों की आकांक्षा न रहने के कारण भक्त शुभाशुभ-फलरूप कर्मबन्धन से [अर्थात् शुभ तथा अशुभ (पुण्य तथा पाप) कर्मों से जो स्वर्गनरकादि में गति प्राप्त होती है वही संसारबन्धन है—इस प्रकार कर्म-जनित बन्धन से] मुक्त हो जाता है क्योंकि कर्मों में कर्तृत्वाभिमान एवं कर्म के फलों में भोक्तृत्व बुद्धि ही संसार में जन्म मृत्यु का बीज है। आत्म-स्वरूप भगवान की प्रेरणा से यन्त्र के समान कर्म करते हुए सर्व कर्मों का भगवान में सम् (सम्यग् रूप से) न्यास (त्याग या समर्पण करने पर कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व बुद्धि का भी स्वतः ही संन्यास (परित्याग) हो जाता है एवं वही भगवान् के साथ योग का (एकत्वलाभ करने का) मुख्य साधन बन जाता है, अतः उसे संन्यास 'संन्यासयोग' कहते हैं। इस प्रकार संन्यास-योग में जिसको आत्मा (अन्तःकरण) सदा ही युक्त रहती है उस 'संन्यास-योगयुक्तात्मा' भक्त का चित्त सर्व प्रकार की काम वासना से तथा तज्जनित विक्षेप से विशेष भाव से मुक्त हो कर (शुद्ध एवं कल्पना रहित हो कर) निर्विकल्प समाधि से मुझ अखण्डाद्वय आनन्दघन परमात्मा को प्राप्त होता है (साक्षात्कार करता है) कहने का अभिप्राय यह है कि जीवितावस्था में ब्राह्मिस्थीति-रूप जीवन्मुक्ति अवस्था प्राप्त होती है एवं देहपात के पश्चात् विदेह कैवल्यरूप-मुझको प्राप्त होता है (ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त हो कर ब्रह्म में ही लीन हो जाता है)। इसलिये श्रुति कहती है—"ब्रह्म सन् ब्रह्माप्येति"।

[तुम भगवान् होकर भी यदि केवल भक्तों के ऊपर ही अनुग्रह करते हो एवं अभक्तगण यदि उस कृपा से वंचित रहे तो तुम अवश्य रागद्वेष विशिष्ट होगे ? ऐसे संशय का निराकरण करने के लिये भगवान् अब कह रहे हैं—]

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

अन्वय—अहं सर्वभूतेषु समः, मे द्वेष्यः न अस्ति (तथा) प्रियः न अस्ति। ये तु मां भक्त्या भजन्ति, ते मयि (वर्तन्ते), अहम् अपि च तेषु (वर्ते)।

अनुवाद—मैं सकल भूतों में ही समान रूप से वर्तमान हूँ, मेरा द्वेष्य नहो है तथा प्रिय भी नहीं है। जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं वे मुझमें रहते हैं और मैं भी उनमें रहता हूँ।

भाष्यदीपिका—अहं सर्वभूतेषु समः—मैं समस्त जीवों में ही सम अथवा तुल्य हूँ (मैं सच्चिदानंद स्वरूप होकर भी उपाधि को ग्रहण करके सभी का

अन्तर्यामी हूँ)। मेरी स्वाभाविक (स्वरूपगत) सद्रूपता, स्फुरणरूपता एवं आनन्दरूपता तथा औपाधिक अन्तर्यामिकता समस्त जीवों के लिए समान-रूप से वर्तमान है अतः—मे द्वेष्यः न अस्ति (तथा) प्रियः न अस्ति—(आकाशव्यापी सूर्य जिस प्रकार सभी को ही समानरूप से प्रकाश तथा ताप देता है एवं सूर्य को जिस प्रकार कोई द्वेष का पात्र अथवा प्रीति का पात्र नहीं रहता है उस प्रकार) मेरा भी कोई द्वेष्य अथवा प्रिय नहीं है। अब प्रश्न होगा तब क्या भगवान् के भजन करने की कोई सार्थकता नहीं है ? पुनः तुम जब स्वयं ही कहते हो कि भक्त लोग तुम्हारी कृपा से तुम्हें प्राप्त होते हैं और अभक्तों को वह प्राप्त नहीं होता है, तब तुममें राग-द्वेष नहीं है वह कैसे मान लूंगा ? इसके उत्तर में भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है—'देखो, अग्नि सभी के लिए समान है। (सम होने पर भी) अग्नि से जो लोग दूर रहते हैं उन लोगों के शीत का निवारण अग्नि नहीं करती है किन्तु जो लोग अग्नि के समीप में बैठते हैं उन लोगों के ही शीत का नाश अग्नि कर देती है। मेरा स्वभाव भी अग्नि के समान है अर्थात् मेरे समीप में जो लोग (जो भक्तलोग) आते हैं वे लोग मेरे अनुग्रह को प्राप्त होते हैं एवं जो लोग मुझ से दूर रहते हैं अर्थात् जो लोग मेरे भक्त नहीं हैं वे लोग अनुग्रह से वंचित रहते हैं। अतः भक्त के प्रति अनुग्रह करने से तथा अभक्त के प्रति अनुग्रह नहीं करने से अग्नि के समान मुझमें रागद्वेष रूप धर्म आरोपित नहीं हो सकता। इसलिए ही—ये तु माम् भक्त्या भजन्ति—जो लोग (फलाकांक्षा शून्य होकर मुझमें सर्वकर्म समर्पण कर) भक्ति के साथ भजन अर्थात् सेवा करते हैं (यहाँ अभक्तों की अपेक्षा भक्तों की जो विशेषता है अर्थात् परमेश्वर के सर्वत्र सम होने से भी भक्तगण ही परमेश्वर से विशेष फल प्राप्त करते हैं, उसे दिखाने के लिए 'तु' शब्द व्यवहृत हुआ है।) ते मयि—वे लोग स्वभावतः ही मुझमें रहते हैं। अभिप्राय यह है कि जो लोग कर्मफल ईश्वर में समर्पण कर निष्कामभाव से अपने अपने वर्णाश्रमोचित कर्मानुष्ठान करते हैं उनका अन्तःकरण शुद्ध होता है अर्थात् अन्तःकरण का रजः तथा तमः रूप मल दूरीभूत होकर बुद्धि सत्त्वगुण विशिष्ट होती है। इसप्रकार चित्तशुद्धि के फलस्वरूप वे लोग वेदान्त वाक्य का श्रवण तथा मननादि के अधिकारी होते हैं एवं श्रवण-मनन-निदिध्यासन के अभ्यास से (भगवदाकारा) वृत्ति से युक्त होकर सदा मुझमें ही स्थित रहते हैं। भक्ति से मेरा (परमेश्वरका) भजन करने पर इसप्रकार की स्थिति स्वतः ही होती है।

अहम् अपि च तेषु—मैं भी (उनलोगों की अति स्वच्छ चित्तवृत्ति में

प्रतिबिम्बित होकर) उन में स्वभावतः रहता हूँ अर्थात् प्रकट होता हूँ, दूसरोंमें प्रकटित नहीं होता हूँ। यह मेरा स्वभाव है इसके द्वारा ऐसा नहीं मानना चाहिए कि दूसरों के प्रति मेरा कोई द्वेष है। इस स्थान में 'च' शब्द अवधारणार्थ में अर्थात् निश्चयार्थ में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् वे लोग (मेरे भक्तलोग) मुझ में रहते हैं और मैं भी उनमें ही रहता हूँ, इस अर्थ में 'अपि' तथा 'च' शब्द व्यवहृत हुआ है। मैं भी, प्रकाश जिस प्रकार सर्वत्र विद्यमान रहने पर भी वह केवल स्वच्छदर्पणादि में ही प्रतिफलित होकर अभिव्यक्त (प्रकाशित) होता है किन्तु अस्वच्छ घटादि में वह अभिव्यक्त नहीं होता है एवं इसके लिए सूर्य की दर्पण के प्रति अनुरक्ति (राग) अथवा घटादि के प्रति विरक्ति (द्वेष) है यह जैसे नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म कर जिन दैवीसम्पत् सम्पन्न व्यक्तियों का चित्त मेरे प्रति भक्ति के द्वारा समस्त दोषों से निर्मुक्त होकर (निर्मल होकर) ब्रह्माकार में आकारित होता है उस अति स्वच्छवृत्ति में मैं सर्वत्र समान होने पर भी) प्रतिबिम्बित होकर उन भक्तों के हृदय में विशेषरूप से अभिव्यक्त (प्रकाशित) रहता हूँ एवं अभक्त का चित्त अस्वच्छ होने के कारण उसमें अभिव्यक्त नहीं होता हूँ। स्वयंप्रकाश चैतन्यस्वरूप मेरा यही स्वभाव है, अतः मैं किसी के प्रति अनुरक्त हूँ ऐसी बात नहीं होती और न किसी के प्रति द्वेष-युक्त हूँ ऐसी बात हो सकती क्योंकि सामग्री की मर्यादा से (अर्थात् वस्तु के स्वभाव से) उत्पन्न होनेवाले कार्य के विषय में कोई प्रश्न नहीं हो सकता। भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि उनके अपक्षपात की अग्नि और कल्पवृक्ष के समान व्याख्या कर लेनी चाहिए [अर्थात् जिस प्रकार जो कोई अग्नि के पास जायगा उसकी ही शीत का निवारण होगा, जो अग्नि से दूर रहेगा उसकी शीत दूरीभूत नहीं होगी अथवा कल्पवृक्ष से जो जैसी कामना करेगा उसे वही वस्तु मिलेगी। इसमें अग्नि और कल्पवृक्ष को कोई पक्ष-पात का दोष नहीं हो सकता—इसी प्रकार भगवत्कृपा सर्वत्र समान होने पर भी उसकी अभिव्यक्ति स्वाभाविकरूप से भक्तहृदय में ही होती है, अभक्त हृदय में नहीं]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—यदि तुम भक्तों को ही मोक्ष देते हो एवं जो अभक्त हैं उनको नहीं देते हो तो क्या तुममें रागद्वेषादि निमित्त विषमता नहीं होगी ? इसपर कहते हैं कि नहीं–अहम् सर्वभूतेषु समः–मैं सभी प्राणियों में सम हूँ न मे द्वेष्यः न प्रियः अस्ति—अतः मेरा कोई प्रिय नहीं और न तो कोई द्वेष का पात्र है। ये तु माम् भक्त्या भजन्ति—इस प्रकार होने पर भी

जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं मयि ते—वे मुझमें रहते हैं अहम् अपि च तेषु और मैं भी अनुग्राहक रूप से उसमें विद्यमान हूँ। अभिप्राय यह है कि जैसे अग्नि अपनी सेवा करने वाले व्यक्ति के ही अन्धकार तथा शीत आदि दुःखो का निवारण करते रहने पर भी अग्नि में कोई विषभता (पक्षपातित्व) नहीं है तथा कल्पवृक्ष के नीचे जो बैठते हैं उनकी कामना पूर्ति होती है तो भी कल्पवृक्ष में कोई विषमता नहीं है वैसा ही भक्तों के लिये मेरा पक्षपातित्व प्रतीत होने पर भी मुझमें कोई विषमता नहीं है किन्तु (भक्तों के प्रति मेरी जो विशेष कृपा होती है वह) मेरी भक्ति की ही महिमा है।

(२) शंकरानन्द-शंका हो सकती है कि परमात्मा भक्तों को ही मुक्ति देते हैं अभक्तों को नहीं, इसलिये स्मृति में (गीता में) जो कहा गया कि "निर्दोषं हि समं ब्रह्म' अर्थात् परमात्मा सब के प्रति सम है, वह केवल कथन-मात्र ही हैं क्योंकि अभक्तों के प्रति विषमता तो है ही ? इसके उत्तर में कहा जायगा नहीं इस प्रकार की आशंका युक्त नहीं है क्योंकि सूर्य सबके प्रति सम होने पर भी शीतकाल में अनावृत देश में (खुली जगह में) आकर जो सूर्य का सेवन करते है, उन्हीं को शीत का वह नाश करता है-जो ऐसा सेवन नहीं करते उनके शीत का नाश नहीं करता है। इसलिये यह वैषम्य सूर्यद्वारा नहीं किया गया है किन्तु पुरुषद्वारा कृत हुआ वैसे ही अभक्त लोगों के सम्बन्ध में कहा जायगा ऐसा सूचन करने के लिये कहते हैं।

सर्वभूतेषु—ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सब प्राणियों में अहम्—परिपूर्ण, निर्विशेष परमात्मस्वरूप मैं स्वयं समः—घट मठ आदि में आकाश जिस प्रकार समान रूप से स्थित रहता है उसी प्रकार मैं सर्वत्र समस्वभाव से रहता हूँ। वायु आदि के समान विषमस्वभाव से नहीं। अतः न मे द्वेष्यः अस्ति न प्रियः—मेरा न तो कोई द्वेष्य (अप्रिय) है और न तो कोई प्रिय है क्योंकि श्रुति कहती है 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (परमात्मा प्राणरहित मनोरहित और शुभ्र है) अतः अन्तःकरण से शून्य परमात्मा में प्रियत्व या अप्रियत्व की भावना सम्भव नहीं है। यदि शंका हो कि तुममें जब प्रिय या अप्रिय को भावना नहीं है तव कीन्हीं की मुक्ति होती है और कीन्हीं को मुक्ति नहीं देते हो यह कैसे सम्भव है ? इसके उत्तर में कहते हैं यह शंका युक्त नहीं है क्योंकि वह पुरुष के अधीन है मेरे अधीन नहीं। इसे स्पष्ट करते हैं ये-अनेक जन्मों में अपने प्रयत्न से और तीव्र मोक्षेच्छा से शुभ कर्मों के करने के पश्चात् उनके परिपाक से शुद्धचित्त होकर सबका संन्यास (त्याग) कर सद्गुरु के प्रसाद से श्रवण मनन आदि द्वारा

परमतत्त्व को जानकर जो पुरुषश्रेष्ठ भक्त्या—भक्ति से अर्थात् अखण्ड ब्रह्माकारा वृत्ति से माम् भजन्ति—मुझको भजते हैं अर्थात् 'मैं ब्रह्म हो हूँ' इस प्रकार की भावना से अपने को परिपूर्ण स्वरूप से स्थित देखते हैं ते—वे ब्रह्मनिष्ठ यतिगण स्वच्छ स्वभाव वाले होने के कारण मयि—मुझ आनन्दस्वरूप ब्रह्म में स्वयं सर्वदा रहते हैं अर्थात् मुझमें मेरे रूप से एक होकर रहते हैं। अहम् च—मैं निर्विशेष परिपूर्ण होकर भी तेषु—उन ब्रह्मविदों में चक्षु जिस प्रकार रूप को विषय करती है उसी प्रकार उनकी बुद्धि वृत्ति का सर्वदा विषयीभूत होकर रहता हूँ। जिस प्रकार सर्वव्यापक एवं सभी के लिये सम (समान) होने पर भी आकाश स्वच्छ जल दर्पण आदि में प्रतिबिम्बित होकर भासता है, दीवार आदि में नहीं, उसी प्रकार मैं भी सत् (भक्त) पुरुषों में प्रकट रहता हूँ असत् पुरुषों में नहीं। श्रुति में कहा है—'तरति शोकमात्मवित्' (आत्माको जानने वाला पुरुष शोक को उत्तीर्ण कर लेता है) अतः इस वाक्य के अनुसार जो मुझ परब्रह्म को जानते है वे मुक्त हैं और जो नहीं जानते है वे बद्ध रहते हैं अतः पुरुष के प्रयत्न से मेरे स्वरूप का जो विज्ञान (विशेष ज्ञान) प्राप्त हो जाता है वही मुक्ति का कारण है—उस विज्ञान का अभाव ही बन्ध का कारण है। न मैं बन्ध का कारण हूँ और न गुरु न शास्त्र बन्धन का कारण हैं। इसलिये मेरा सर्वभूतों में समत्व का व्याघात नहीं होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जैसे पुरुष के प्रयत्न से शीत की निवृत्ति होती है, वैसे ही संसार से मुक्ति भी पुरुष के प्रयत्न से ही होती है, स्वयं सिद्ध नहीं होती है अतः मुमुक्षुओं को मुक्ति के लिये प्रयत्न कर्तव्य है, ऐसा सूचित किया गया है।

(३) नारायणी टीका—परमेश्वर सर्वभूतों में सम (तुल्य) हैं उनका प्रिय (मित्र) नहीं है तथा द्वेष्य (शत्रु) भी नहीं है। भक्ति के द्वारा भक्त का हृदय स्वच्छ होता है उन की चित्तवृत्ति भगवदाकारता को प्राप्त होती है इसको ही 'भक्त भगवान् में रहते हैं' ऐसा कहा जाता है। पुनः सर्वव्यापी तथा सर्वत्र समान होने पर भी प्रकाशस्वरूप भगवान् विशेषरूप से भक्त के स्वच्छ हृदय में ही प्रतिबिम्बित होता है अर्थात् भक्त के हृदय में ही भगवान का विशेष प्रकाश होता है। इसलिये कहा गया है कि मैं (परमेश्वर भक्तों में रहता हूँ अर्थात् विशेषरूप से अभिव्यक्त होता हूँ। अभक्त का हृदय विषयवासना प्रभृति के द्वारा अस्वच्छ (मलीन) रहने के कारण उसमें भगवान का प्रकाश नहीं हो सकता है। दर्पण की स्वच्छता रहने से विम्ब का प्रतिविम्ब उसमें दीखता है और अस्वच्छता के कारण प्रतिबिम्ब का अभाव होता है, इसमें जिस प्रकार विम्ब का रागद्वेष सूचित नहीं होता है उसी प्रकार भक्त के हृदय में प्रकाशित

होने के कारण तथा अभक्तों में अप्रकाशित रहने के कारण भगवान में पक्षपात दोष अथवा रागद्वेष धर्म का आरोप संगत नहीं होता है। भक्तहृदय में भगवान् का प्रकाश तो भगवद्भक्ति की ही स्वाभाविक महिमा है।

[भक्ति के प्रभाव से भक्तहृदय में मैं प्रकट होता हूँ, यह बात पूर्व-श्लोक में कहा गया है। मेरे प्रति भक्ति का माहात्म्य और श्रवण करो—]

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

अन्वय—सुदुराचारः अपि चेत् अनन्यभाक् (सन्) मां भजते, स साधुः एव मन्तव्यः, हि सः सम्यग्व्यवसितः ।

अनुवाद—अत्यन्त दुराचारी भी यदि (अन्य किसी विषय में आसक्ति नहीं रखकर) अनन्यभक्ति से मेरा भजन (सेवा) करे तो उसे साधु ही समझना चाहिए क्योंकि वह सम्यग्रूप से व्यवसित हुआ है (अर्थात् दृढ़ निश्चय किया है कि परमेश्वर की उपासना के द्वारा ही मैं कृतार्थ होऊँगा)।

भाष्यदीपिका—सुदुराचारो अपि चेत्—(अजामिल प्रभृति के समान) यदि कोई सु (अत्यन्त) दुराचारी होकर अर्थात् अतीव कुत्सित आचरणशील होकर भी अजामिल के समान यदि अनन्यभाक् (सन्) मां भजते—अनन्यभक्तिपूर्ण होकर मेरा भजन (सेवा) करे अर्थात् कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिधर्मविशिष्ट अनात्म देहेन्द्रियादि की आत्मरूप से सेवा न कर परब्रह्मस्वरूप मुझको ही एकमात्र सत्वस्तु तथा अपनी यथार्थ आत्मा जानकर निरन्तर मुझमें ही स्थित रहने की चेष्टा करे अथवा अन्य किसी विषय में आसक्ति नहीं रखकर एवं तपश्चर्या प्रायश्चित्तादि दूसरे किसी साधन की भी अपेक्षा न रखकर एकमात्र मुझको ही स्मरण कर यदि अविचलित चित्त से मेरा ही निरन्तर भजन करे तो [श्लोक में 'अपि चेत्' शब्द के एतादृश पापी व्यक्तियों का भगवान् में अनन्यभक्ति प्राप्त करना दुर्लभ है, वह सूचित किया जा रहा है। पूर्वजन्म की अनेक सुकृति के फलस्वरूप ही ऐसा होना सम्भव है।]

स साधुः एव मन्तव्यः—उसको साधु ही मानना चाहिए अर्थात् उसको सम्यग्वृत्त अर्थात् यथार्थ आचरण करने वाला [भगवद्भक्त (आनन्द-गिरि)] ही मानना पड़ेगा। हि—क्योंकि सः सम्यग् व्यवसितः—वह सम्यक् प्रकार (यथावत्) व्यवसित (अर्थात् निश्चययुक्त) हो चुका है अर्थात् वह उत्तम निश्चय वाला हो गया है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—इसके अतिरिक्त मेरी भक्ति का और भी प्रभाव है जो तर्क से निर्णीत होने के योग्य नहीं है। उस भक्ति का प्रभाव अब भगवान् दिखाते हुए कहते हैं—

अपि चेत् सुदुराचारः माम् अनन्यभाक् भजते—अत्यन्त दुराचारी व्यक्ति भी यदि मुझसे अतिरिक्त अन्य देवता की पृथक् भाव से भक्ति न कर केवल मुझ परमेश्वर श्रीनारायण का ही भजन करते रहे तो सः साधुः एव मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः—वह साधु अर्थात् श्रेष्ठ ही है, ऐसा मानना पड़ेगा क्योंकि वह सम्यक् प्रकार से (पूर्णरूप से) व्यवसित (निश्चयवाला) है अर्थात् परमेश्वर के भजन से ही मैं कृतार्थ हो जाऊँगा—ऐसा सुन्दर (यथार्थ) निश्चय किया है।

(२) शंकरानन्द—'राजविद्या' (गीता ९।२) इस विशेषण से ब्रह्म-विद्या से अतिरिक्त (भिन्न) अन्य सब विद्याएँ समस्त वेद और शास्त्र के अध्ययन से उत्पन्न होने पर भी संसारबन्धन का कारण है, ऐसा जो पहले सूचित किया था उसका 'मोघाशा' (गीता ९।१२) इसमें और 'त्रैविद्या' (गीता ९।२०) इत्यादि में प्रतिपादन कर के तदनन्तर ब्रह्मविद्या मोक्ष देनेवाली है, इसका 'महात्मानस्तु' (गीता ९।१३) इसमें और 'यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्' (९।२५) इत्यादि में प्रतिपादन कर के 'पवित्रमिदमुत्तमम्' (गीता ९।२) इससे ज्ञान के पावकत्वतम की (अर्थात् ज्ञान सर्वश्रेष्ठ पवित्रकर है इसकी) जो प्रतिज्ञा की थी उसी को स्पष्ट करते हैं—

अपि सः सुदुराचारः—जो कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय या अन्य सुदुराचार अर्थात् पापिष्ठ भी हो [जाति से, वर्ण से, क्रिया से या स्वभाव से अत्यन्त दुष्ट आचार (वृत्त) जिसका है वह सुदुराचार है] तथापि पूर्वजन्म के अत्यन्त पुण्य कर्म के फलरूप से परम तत्त्व को जानकर स्वयं अनन्यभाक्—जो अन्य को अर्थात् अनात्मस्वरूप कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्मविशिष्ट देह, इन्द्रिय आदि को आत्मरूप से भजता है वह 'अन्यभाक्' है और जिसे चित्त के प्रसाद से (चित्तशुद्धि से) अपने स्वरूप का यथार्थ विज्ञान प्राप्त हुआ है वह आत्मा से व्यतिरिक्त अन्य अनात्मवस्तु को नहीं भजता है, अतः वह अनन्य-भाक् है। इसप्रकार होकर माम् भजते—मुझ परब्रह्म को भजता है अर्थात् 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इसप्रकार अपने में अविकारी ब्रह्म का ही सदा अनुसन्धान करता है सः—वह ब्रह्मवेत्ता साधुः एव मन्तव्यः—साधु ही (अर्थात् सत् ज्ञान से एवं सदाचारवान् होने से सत्पुरुष ही) है, ऐसा पण्डितों को मानना चाहिए अर्थात् 'यह पूर्वका पापी, दुराचारी है' इस बुद्धि का त्यागकर 'यह ब्रह्मज्ञानी सबसे पुण्यवान् है' इसप्रकार जानना चाहिए। वह पुण्यतम क्यों

है, उसे कहते हैं—हि—जिस कारण से सः सम्यग्व्यवसितः—वह पुरुष सम्यक् प्रकार से (पूर्णरूप से) व्यवसित है [अर्थात् वस्तु का याथात्म्य (यथार्थस्वरूप) निश्चित किया है (तत्त्व का निश्चयात्मक विज्ञान सम्यक् प्रकार से जिसका व्यवसित हुआ है अर्थात् जाति, वर्ण, उनके धर्म तथा कर्म के सम्बन्ध से शून्य, आकाश के समान अतिनिर्मल निष्क्रिय, नित्यमुक्तस्वभाव जो परब्रह्म है वही मैं हूँ, इसप्रकार तत्त्व के साक्षात् अनुभव से उत्पन्न हुआ निश्चयरूपस्वभाव जिसका है, वह 'सम्यग्व्यवसित' है। जिस कारण से वह साधु ही है। जिस कारण से वह सम्यग् ज्ञान से सम्पन्न हुआ है उसी कारण से वह साधु ही है, ऐसा सबलोगों को जानना चाहिए एवं उसका पूजन करना चाहिए। 'न वासुदेवभक्तानाम्', 'न मे भक्तः प्रणश्यति' (वासुदेव के भक्तों का कभी अकल्याण नहीं होता है, मेरा भक्त नष्ट नहीं होता है), इन वाक्यों का अर्थविचार करने पर इस श्लोक का अर्थ इसप्रकार भी होता है—अपि चेत् सः सुदुराचारः—ब्रह्मनिष्ठ यति यदि स्वयं भ्रम और प्रमाद से कभी अतिनिन्दित आचरणवाला भी हो जाय अर्थात् एकाकी मौनी होकर भिक्षाटन करता हुआ अभिप्राप्त, पतित आदि मनुष्य के अन्न आदि का भोजन करने से या देशकाल आदि की विषमता होनेपर दुष्ट (दूषित, अपवित्र) अन्न भोजन करने से अथवा चण्डाल आदि के सम्पर्क से अत्यन्त दोषी (अशुद्ध) हो जाय तथापि माम् अनन्यभाक् भजते—मुझसे अन्य को (विषय के आकार को) जो भजता है अर्थात् विषयाकाराभाक् (वृत्ति) जिसकी है वह अन्यभाक् है और मुझसे व्यतिरिक्त (अन्य विषय से शून्य) भाक् (वृत्ति) जिसका है वह 'अनन्यभाक्' है। इसप्रकार होकर 'अहमन्न-महमन्नमहमन्नादोऽहमन्नादः' इस श्रुति में जिस प्रकार कहा गया है उस रीति से दाता, दान, देय और भोक्ता, भोज्य, भोजन सब मैं ही हूँ और वे सब ब्रह्म ही है, इसप्रकार सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रखकर जो मुझ निर्विशेष परब्रह्म को भजता है अर्थात् प्रत्यक्दृष्टि से यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ, ऐसा अनुसन्धान (चिन्तन) करता है एवं इसप्रकार सब में और अपने में ब्रह्ममात्रत्व का अनुसन्धान करता है वह ब्रह्मज्ञानी साधुः एव मन्तव्यः—साधु (शुद्ध) ही है, ऐसा पण्डित लोगों को मानना अर्थात् जानना चाहिए। किन्तु अन्नादि के दोष के अनुसार प्रायश्चित्त न करने के कारण वह शुद्ध ही हो गया ऐसा कैसे जाना जा सकता है ? इस शंका का निवारण करने के लिये कहते हैं—सम्यग् व्यवसितः सः—शास्त्रों में कहा है 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' (आत्मलाभ से अर्थात् अपरोक्ष आत्मज्ञान से अधिक और दूसरा कोई लाभ है नहीं); फिर भी कहते हैं—

सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संस्कारं प्रतिपद्यते॥
प्रायश्चित्तं ब्रह्मविदो यतेस्तु ब्रह्मवेदनम्।
दोषप्रसक्तावन्यन्न शास्त्रदृष्टं विधीयते॥
अतिपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम्।
भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः॥
प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपःकर्मात्मकानि वै।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम्॥
यदि कुर्यात् प्रमादेन योगी कर्म विगर्हितम्।
योगेनैव दहेदंहो नाऽन्यत्तत्र कदाचन॥
स्वे स्वे अधिकारे या निष्ठा सः गुणः परिकीर्तितः।
विपरीतस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः॥

(भागवत)

"जिस पुरुषने सम्यग् दर्शन लाभ किया है वह कर्म से बद्ध नहीं होता है आत्मदर्शन से रहित पुरुष के लिये संस्कार की आवश्यकता होती है। ब्रह्मवित् यति के लिये केवल ब्रह्मज्ञान ही (सर्वदोषों का) एकमात्र प्रायश्चित्त है, दोष का प्रसंग होनेपर उसके लिये शास्त्रविहित अन्य प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया जाता है। महापातक से युक्त होनेपर भी निमिषमात्र अच्युत के (सदा अविकारी परब्रह्म के) ध्यान के प्रभाव से तपस्वी पुनः पंक्ति पवित्र करनेवालों को भी पवित्र करने वाला हो जाता है। जितने तप और कर्मरूप प्रायश्चित्त है, उन सब में कृष्ण का (परमात्मा का) अनुस्मरण ही सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित्त है। यदि प्रमाद से (असावधानता से) योगी निन्दित कर्म कर भी ले तो भी योगानुष्ठान से ही वह उस पाप को दग्ध कर दे, पाप का नाश करने के लिये प्रायश्चित्त या अन्य किसी का आश्रय न ले। अपने-अपने अधिकार में जो निष्ठा है, वही गुण है, उससे विपरीत होने पर वह दोष है। गुण और दोष इन दोनों में निश्चय इसप्रकार किया गया है।" इन सब वाक्यों से ज्ञानी का ज्ञान ही प्रायश्चित्त है, इसप्रकार मनु प्रभृति जो निश्चय किये हैं, वह जिसका सम्यक् व्यवसित है अर्थात् वह जो पूर्णरूप से समीचीन (युक्तियुक्त) निश्चय किया है, वह सम्यग्व्यवसित है अर्थात् समीचीन प्रायश्चित्त वाला है। ब्रह्मसूत्र में कहा है 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ' (उसके जानने पर आगे किये हुए और पहले किए हुए पापों के सम्बन्ध का अभाव तथा विनाश होता है। श्रुति में कहा है—'यथा पुष्करपलाश आपो न

श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' (जैसे कमल के पत्ते को जल नहीं स्पर्श करता है, वैसे ही 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार जानने वाले को पाप कर्म नहीं स्पर्श करता है ।), न लिप्यते कर्मणा पापकेन' (ब्रह्मविद् पापकर्म से लिप्त नहीं होता), 'उभे ह्येवैष एते तरति' (यह इन दोनों को ही अर्थात् पाप और पुण्य को तर जाता है) इन सब श्रुतियों की प्रसिद्धि सूचित करने के लिये 'हि' शब्द का प्रयोग हुआ है ।

ऊपर में 'अतिपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम्' कहा गया है । उस वाक्य का अर्थ यह है—भ्रम से या प्रमाद से देश या काल की विषमता होने पर दुष्ट अन्नभक्षणरूप अत्यन्त पाप करके भी ब्रह्मवित् यदि निमिषमात्र (केवल आधेक्षण) अच्युत का (नित्यकूटस्थ असंग आत्मा का) ध्यान करता है (अर्थात् 'मैं अकर्ता हूँ, अभोक्ता हूँ, अविकारी हूँ, अक्रिय हूँ' इसप्रकार कर्ता, करण तथा कार्य से भिन्न निष्क्रिय परब्रह्मस्वरूप आत्मा को देखता है) तो वह पुनः तपस्वी अर्थात् शुचि (शुद्ध) होता है अथवा तप से सम्पन्न होता है [अभिधान में 'शुचिदीनर्षिव्रतिनो वनस्थाश्च तपस्विनः' अर्थात् शुचि, दीन, ऋषि, व्रती तथा वनवासी (वानप्रस्थ) को तपस्वी कहते हैं] । शंका होगी—यदि ब्रह्म के ध्यान से शुद्ध भी हो तथापि वह व्यवहार के अयोग्य ही है ? इसके उत्तर में कहते हैं—जो त्रिसुपर्ण के पढ़ने वाले और जो चतुर्वेदी अथवा वाजपेय, चयनादि के करने वाले हैं) किन्तु जो उक्त प्रकार से (ब्रह्म-स्वरूप अच्युत आत्मा के ध्यान से) तपस्वी (शुद्ध) हुआ है उस ब्रह्मवेत्ता को वे सब विद्वान् तथा कर्मकाण्डी लोग भी पूजा नमस्कार आदि करते हैं । अतः वह तपस्वी ब्रह्मवित् उनको भी पवित्र करता है, इसलिये पंक्तिपावन पावन सबका पूज्य होता है । 'प्रायश्चित्तान्यशेषाणि' इत्यादि वाक्य का अर्थ इसप्रकार है—प्रायश्चित्त (कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र, महाकृच्छ्र चान्द्रायण आदि तपरूप प्रायश्चित्त हैं एवं वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध आदि जो अशेष कर्मरूप प्रायश्चित्त प्रसिद्ध हैं ('वै' शब्द शास्त्र में वे सब प्रसिद्ध है, यह सूचित कर रहा है), उन अशेष प्रायश्चित्त का (पञ्चमी अर्थ में षष्ठी विभक्ति हुई है) अर्थात् उन अशेष प्रायश्चित्त से कृष्ण का अनुस्मरण परम (सर्व से उत्तम) प्रायश्चित्त है । 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' (कृष्ण शब्द में 'कृष' धातु भू (सत्ता) का वाचक है और 'ण' आनन्द का वाचक है, उन दोनों का ऐक्यरूप सदानन्द परब्रह्म कृष्ण कहलाता है । विष्णुपुराण का इस वाक्य के अनुसार कृष्ण शब्द का अर्थ है सदानन्दस्वरूप परमात्मा (परब्रह्म उस कृष्ण का 'अनुस्मरण' पद का

तात्पर्य यह है—गुरु के उपदेशानुसार 'मैं ही अविकारी ब्रह्म हूँ' इसप्रकार अपने स्वरूप से ब्रह्म का अभिन्नरूप से जो अनुभव है उसका ही यहाँ अनुस्मरण कहा गया है। इसप्रकार अनुभव (अनुस्मरण ही) परम (उत्कृष्टतम तथा सुकर अर्थात् सुख से साध्य) प्रायश्चित्त है। कहने का अभिप्राय यह है कि जिस पाप के उद्देश्य से जो कृच्छ्र आदि प्रायश्चित्त किया जाता है, उससे वही पाप नष्ट होता है, अन्य सञ्चित या आगामी नहीं। "अहं ब्रह्मेति मां ध्यायन्नेकाग्रमनसा सकृत्। सर्वं तरति पाप्मानं कल्पकोटिशतैः कृतम्॥" इस न्याय से कृष्ण का अनुस्मरण तो शतशत कोटि कल्पों में किये गये भूत, वर्तमान और भावी सभी पुण्य और पापों को नष्ट करके मोक्ष को प्राप्त कराता है, इसलिये ब्रह्म का अनुसन्धान सबसे उत्तम (श्रेष्ठ) प्रायश्चित्त है।

(३) नारायणी टीका—परमकारुणिक परमेश्वर ही सर्वभूत के सुहृद् एवं आत्मा हैं, वही एकमात्र सद्वस्तु है, और समस्त परिदृश्यमान जगत् मिथ्या (मायिक) है; मेरा अन्य किसी प्रायश्चित्तादि साधन का प्रयोजन नहीं है, एकमात्र उस परमेश्वर का आश्रय कर ही मैं सर्वपापों से मुक्त होकर मृत्युरूप संसार समुद्र से लाभ करूँगा–ऐसा दृढ़ निश्चय होकर अनन्यभक्ति के द्वारा मेरा जो भजन करता है उसका व्यवसाय अथवा निश्चय साधु (उत्तम) होने के कारण उसको साधु ही समझना चाहिये—यही कहने का अभिप्राय है। यथार्थ निश्चयकारिणी बुद्धि एक वस्तु को ही (परमात्मा को ही) आश्रय करती है और जो लोग अव्यवसायी (अनिश्चित बुद्धि वाले) हैं उनकी बुद्धि असंख्य विषयों के प्रति धावित होती है। गीता में यह पहले ही स्पष्ट रूप से कहा गया है (गीता २।४)। प्रश्न है प्रायश्चित्तादि के बिना पापक्षय नहीं होने से चित्तशुद्धि नहीं होती है एवं चित्तशुद्धि के बिना ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है एवं ज्ञान के बिना मोक्ष लाभ नहीं होता है। ऐसी अवस्था में केवल तुम्हारा ही अनन्यभक्ति से भजन करने से साधु कैसे होंगे ? इसका उत्तर भागवत तथा अन्य शास्त्रों में स्पष्ट कर कहा गया है कि सम्यग्दर्शनसम्पन्न व्यक्ति कर्म से बद्ध नहीं होते हैं। जिनको सम्यग् दर्शन नहीं हुआ है उनके लिए ही संस्कार (प्रायश्चित्तादि) की आवश्यकता होती है। ब्रह्मविद् यति के लिए ब्रह्मचिन्तन ही प्रायश्चित्त है, उसका कोई दोष होने से शास्त्रों में उसके अतिरिक्त दूसरे किसी प्रायश्चित्त का उल्लेख नहीं है। कोई व्यक्ति अत्यन्त पाप में आसक्त होने पर भी यदि एक निमेष भी अच्युत भगवान् का ध्यान करता है तो वह पुनः तपस्वी होता है एवं उन अच्युत भगवान् के चरणकमल में एक निमेष के लिए जिसका ध्यान लगा हुआ है वैसा भाग्यवान् व्यक्ति सकल

पंक्ति को पवित्र करने में समर्थ होता है। यदि कोई पुण्यवान् पुरुष रहे तो उसको भी पवित्र कर देता है। जितने प्रकार के प्रायश्चित्त, तपश्चर्या प्रभृति कर्म हैं उनको परम सार्थकता होती है जब कृष्ण का (परमानन्दस्वरूप परब्रह्म का) सतत स्मरण होता रहता है। योगी व्यक्ति यदि कोई पाप करे तब योग के द्वारा ही वह पाप दग्ध (नाश) हो जायगा, दूसरे किसी के द्वारा (अर्थात् चान्द्रायणादि प्रायश्चित्त के द्वारा) नहीं। अपने-अपने अधिकार में जो निष्ठा (अर्थात् ज्ञानी की ज्ञान में, योगी की योग में, कर्मी की कर्म मे जो निष्ठा रहती है, उस उस व्यक्ति के लिए वही गुण कहा जाता है उसके विपरीत होने से ही दोष होता है (अर्थात् ज्ञानी यदि प्रायश्चित्तादि कर्म के द्वारा पाप नाश करने की चेष्टा करे तो उसमें दोष होता है), यही गुण तथा दोष के सम्बन्ध में शास्त्र में निश्चय किया गया है।

भागवत तथा विष्णु पुराण में यह भी कहा गया है—'अहं ब्रह्मेति मां ध्यायन्नेकाग्रमनसा सकृत्। सर्वं तरति पाप्मानं कल्पकोटिशतैरपि ॥' अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी भावना के द्वारा आत्मस्वरूप मेरा यदि एकाग्रमन से एकबार कोई ध्यान करे तो करोड़-करोड़ जन्मों के सभी पापों से वह व्यक्ति मुक्तिलाभ करता है।

अतः परब्रह्म मेरा अनन्य भक्त होकर मेरा सतत चिन्तन करना ही सर्वोत्तम प्रायश्चित है, जिसने पूर्णभाव से संशयरहित होकर इसप्रकार निश्चय किया है अर्थात् सम्यग्व्यवसित हुआ है एवं अन्य सब चिन्ता छोड़कर अनन्य भक्ति से जो मेरा भजन करता है अर्थात् निरन्तर मेरा स्मरण करता है वह पहले अत्यन्त दुराचारी होते हुए भी मेरे प्रति अनन्यभक्ति के प्रभाव से सर्वपापों से विमुक्त होकर साधु ही हो जाता है, अतः उसे साधु ही समझना चाहिए। [भगवद्भक्ति में अत्यन्त पापी व्यक्ति का पूर्ण अधिकार है एवं कोई भी भगवान् का अनन्यभक्त होकर परमानन्दस्वरूप सर्वात्मा भगवान् का साक्षात्कार कर मोक्षलाभ कर सकता है। भगवद्भक्ति का यही अचिन्त्यप्रभाव है, यह इस श्लोक में सूचित हो रहा है]।

[अनन्यभक्ति के द्वारा साधु होने से उसकी विशेषता अन्त में क्या होती है वही कहा जा रहा रहा है—]

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

अन्वय—(सः) क्षिप्रं धर्मात्मा भवति, शश्वत् शान्तिं निगच्छति, हे कौन्तेय। प्रतिजानीहि मे भक्तः न प्रणश्यति।

अनुवाद—(वह व्यक्ति पहले के दुराचार का परित्याग कर एवं मैं ही एकमात्र नित्यसत्य वस्तु हूँ इस प्रकार निश्चयात्मिका बुद्धि से मेरी उपासना कर उसके प्रभाव से) शीघ्र ही धर्मात्मा अर्थात् धार्मिक चित्तवृत्ति-सम्पन्न होता है एवं नित्य (सर्वकाल के लिए) शान्तिको (संसार से उपशम अर्थात् मोक्षरूप शान्ति को) पूर्ण रूप से प्राप्त करता है। हे कौन्तेय ! तुम गर्व के सहित प्रतिज्ञा करके घोषणा कर सकते हो कि मेरा (भगवान का) भक्त कभी भी प्रनष्ट नहीं होता है (अर्थात् मुझसे भ्रष्ट होकर दुर्गति को प्राप्त नहीं होता है)।

भाष्यदीपिका। स :—पूर्ववर्ती श्लोक में उक्त व्यक्ति **क्षिप्रं धर्मात्मा भवति**—(एकमात्र भगवान की शरणागति तथा अनन्यभक्ति के द्वारा मैं संसार समुद्र से अपने को उद्धार करूँगा इस प्रकार आन्तरिक यथार्थ निश्चय की शक्ति से) वह शीघ्र ही बाहरी दुराचारता को परित्याग कर धर्मात्मा (धर्मचित्त अर्थात् धार्मिक चित्त वाला) हो जाता है। प्रश्न है दुराचारी व्यक्ति के लिए धर्मचित्त होना कैसे सम्भव है ? उत्तर में कहा जा सकता है–यह सम्भव है। परब्रह्म परमात्मा वासुदेव के भक्तों का (अर्थात् जो लोग वासुदेव में ही आत्मबुद्धि कर अनन्यरूप से उनमें युक्त रहते हैं उन लोगों का) कोई अशुभ नहीं हो सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि भगवद्भजन के प्रभाव से अत्यन्त दुराचारी के भी सर्वपाप क्षय हो जाते हैं अर्थात् उनलोगों का रजः तथा तमोगुण समूल उन्मूलित होकर चित्तशुद्धि प्राप्त होती है एवं तदनन्तर आत्मज्ञान (आत्मसाक्षात्कार अर्थात् 'मैं ही वह वासुदेव हूँ' ऐसी अपरोक्षानुभूति) प्राप्त होती है। आत्मज्ञान ही प्रकृत धर्म है। [इस अध्याय के उपक्रम में ही (९।३ श्लोक में) धर्मशब्द 'आत्मज्ञान' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।] अतः इस आत्मज्ञान रूप धर्म में जिसकी आत्मा (चित्त) स्थिर रहती है उसको ही यथार्थ धर्मात्मा कहा जाता है। भगवान् में अनन्य भक्ति रहने से ही विषय में आसक्ति का (अतः दुराचारता का) परित्याग एवं तत्त्वज्ञान का उदय स्वयं ही होता है। इसलिए भागवत में कहा गया है—'भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैषः त्रिक एककालः। प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥' (भागवत ११।२।४२) अर्थात् भगवान का भजन करते रहने पर प्रेमाभक्ति, भगवद्स्वरूप की अनुभूति (तत्त्वज्ञान) एवं विषय-वैराग्य ये तीन एक ही साथ उपस्थित होते हैं, जिस प्रकार प्रतिग्रास के भोजन से क्षुधार्त की पुष्टि, तुष्टि तथा क्षुधा की निवृत्ति एक ही समय में होती हैं। अतः पहले अत्यन्त दुराचारी होने पर भी अनन्यभक्ति के साथ

भगवान का भजन करने से वह व्यक्ति शीघ्र धर्मात्मा (आत्मा में ही रत) होगा, यह कहना युक्ति तथा शास्त्रसंगत ही हुआ है। शश्वत् शान्ति निगच्छति—[वैसा व्यक्ति] नित्य शान्ति (उपशम) भी प्राप्त होता है। [शान्तिदुराचार से उपराम (आनन्दगिरि), विषयभोग की स्पृहा की निवृत्ति (मधुसूदन)।] यहाँ नित्य शान्ति अथवा उपशम का अर्थ है तत्त्वज्ञान के द्वारा अविद्या की निवृत्ति होने से संसार प्रवाह का चिरकाल के लिए जो उपशम होता है वह अर्थात् अनावृत्ति लक्षण मुक्ति प्राप्त होती है [अर्थात् जिस मुक्ति को प्राप्त करने से और संसार में पुनः प्रत्यावर्तन नहीं करना पड़ता है) वही नित्यशान्ति है—इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी शान्ति चिरकाल तक स्थायी (नित्य) नहीं हो सकती है। भगवद्भक्ति की अपार महिमा वर्णन करने के उद्देश्य से श्री भगवान् कह रहे हैं कि मेरे प्रति अनन्य भक्ति अत्यन्त दुराचारी का केवल पाप का नाश कर उसको प्रकृत साधु कर देती है, वही बात नहीं किन्तु उस भक्ति के प्रभाव से शीघ्र ही वह तत्त्वज्ञानी होकर संसार से उपशम रूप नित्यशान्ति अर्थात् मुक्तिको प्राप्त होता है। प्रारब्ध का क्षय होने तक जीवन्मुक्ति की शान्ति तथा आनन्द उपभोग करता है एवं देहपात के बाद अपुनरावृत्ति रूप नित्यशान्ति अर्थात् विदेह कैवल्य प्राप्त होता है। अब प्रश्न है, 'अच्छा, जिन लोगों ने तुम्हारे भजन के प्रभाव से दुराचार का त्याग किया है, वे लोग तो ज्ञान लाभ कर नित्य शान्ति (मोक्ष) प्राप्त करते हैं किन्तु जो लोग तुम्हारे शरणापन्न होकर भी पूर्व अभ्यस्त दुराचार परित्याग करने में समर्थ नहीं होते हैं वे तो धर्मात्मा (चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञानी) नहीं हो सकेंगे अतः तुम्हारा भक्त होकर भी वे नष्ट ही हो जायगा अर्थात् अधोगति प्राप्त होंगे। क्योंकि श्रुति में कहा गया है 'नाविरतो दुश्चरितान्ना शान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥' (कठ० उ० १।२।२४) अर्थात् जो श्रुतिस्मृति से निषिद्ध पापकार्यों से विरत नहीं होता है, विषय के लिए इन्द्रिय की लोलुपतावशतः अशान्त रहता है अर्थात् जिसका चित्त असमाहित अर्थात् विक्षिप्त रहता है एवं जिसका चित्त फलाकांक्षा के निमित्त विषय में आसक्त रहने के कारण अशान्त रहता है, वह गुरुमुख से अथवा शास्त्र से ब्रह्मविज्ञान को प्राप्त करके भी प्रकृत आत्मा को नहीं जान सकता है। इसके उत्तर में भक्तवत्सल भगवान् कह रहे हैं—] हे कौन्तेय——हे अर्जुन! तुम्हारी माता कुन्ती सैकड़ो कष्टो में भी एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण की ही शरणागत थी, ताकि भगवान् का निरन्तर स्मरण कर सके यही थो उनकी भगवान के निकट

एकमात्र प्रार्थना। इसीलिए जब कुरुक्षेत्र के युद्ध के बाद युधिष्ठिर राजसिंहासन में अधिष्ठित हुए एवं कुन्ती राजमाता हुई तब उनकी कोई प्रसन्नता नहीं हुई क्योंकि उनको भय हुआ कि विषयसुख से भगवान को वे भूल जायेंगी। इसलिए भगवान् के निकट कहा था 'विपदः सन्तु ताः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो। भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम्।। जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्। नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिंचिनगोचरम्।।' (भागवत १।८।२५-२६) अर्थात् हे जगद्गुरो! मुझको चिरकाल विपद ही देते रहो ताकि तुम्हारा निरन्तर दर्शन (स्मरण) करने के फलस्वरूप मुझको पुनर्जन्म और ग्रहण न करना पड़े अर्थात् मैं मोक्ष प्राप्त कर सकूँ (सम्पत् तुम्हारे भजन में विघ्न सृष्टि कर कल्याण की परिपन्थी होती है क्योंकि) उत्तम कुल में जन्म से ऐश्वर्य वेदज्ञान, लक्ष्मी (धन इत्यादि) प्राप्त होकर मनुष्य की मत्तता (घमंड) की वृद्धि होती है एवं वह मनुष्य तो तुम्हारा नाम भी नहीं ले सकता क्योंकि तुम तो उन लोगोंको दर्शन देते हो, जो अकिञ्चन हैं। भगवान् अर्जुनको अब स्मरण करा दे रहे हैं कि तुम मेरे उस अनन्यभक्त कुन्ती के पुत्र हो। जब अत्यन्त पापाचारी पुरुष मुझको आश्रय कर ज्ञान लाभ करके नित्यशान्ति (मोक्ष) प्राप्त कर सकता है तब तुम जो मोक्ष प्राप्त करोगे इस विषय में तुम्हारा कोई संशय रहना उचित नहीं है— 'कौन्तेय' कहकर सम्बोधन करने का अभिप्राय यह है कि हे कुन्ति नन्दन। तुम अब यथार्थ बात सुनो अर्थात् भगवद् भक्ति का यथार्थ प्रभाव समझ लो। प्रतिजानीहि—(तुम) यह निश्चित प्रतिज्ञा कर कहो अर्थात् दृढ़ निश्चय कर अथवा संशयकारियों की सभा में बाहु उत्तोलन कर (उठाकर) गर्व के साथ उनके वाक्य की अवज्ञा करके प्रतीज्ञा कर] कहो कि—मे भक्तः न प्रणश्यति— मेरे (भगवान के) भक्त अर्थात् मुझमें जिसका अन्तः करण समर्पित हुआ है वह मेरा किसी अवस्था में भी (वह यदि दुराचार से निवृत्त नहीं भी हो तथापि) प्रनष्ट नहीं होता अर्थात् उसका कभी पतन नहीं होता है। मेरे प्रति एकान्तिक भक्ति के अतुलनीय प्रभाव से वह शीघ्र ही दुराचार एवं पूर्वकृत पापों से मुक्त होकर अन्त में तत्त्वज्ञान प्राप्त कर अवश्य ही कृतार्थ होगा (मोक्षस्वरूप मुझको प्राप्त होगा)। इस विषय में अजामिलादि की आख्यायिका के द्वारा शास्त्र में अनेक निदर्शन दिये हुए हैं वह भी उल्लेख कर सकते हो। यही 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा' कहने के बाद 'न मे भक्तः प्रणश्यति' कहने का अभिप्राय है।

[मधुसूदन सरस्वतीने इस प्रकार की व्याख्या की—'यदि तुम्हारा

कोई भक्त पूर्व अभ्यस्त दुराचरण को न त्याग सकने के कारण धर्मात्मा न हो तब तो उसका नाश ही हो जायगा' ऐसी अर्जुन की ओर से आशंका करके भगवान् भक्तों के प्रति कृपापरवश होने के कारण मानो कुपित होकर कह रहे हैं—नहीं अर्जुन ! तुम इसमें आश्चर्य मत मानो, मेरी भक्ति का ऐसा माहात्म्य निश्चित ही है। इसलिये जिनको विपरीत बुद्धि है उनके सामने तुम अवज्ञा और गर्व सहित प्रतिज्ञा करो कि मुझ वासुदेव का भक्त अत्यन्त दुराचारी प्राण संकट में पतित तथा अयोग्य होकर भी एवं किसी अत्यन्त दुर्लभ वस्तु की इच्छा करनेवाला तथा अत्यन्त मूढ़ और निराश्रय होने पर भी नष्ट नहीं होता, बल्कि कृतार्थ ही हो जाता है इस विषय में अजामिल, प्रह्लाद, ध्रुव एवं गजेन्द्र आदि दृष्टान्त प्रसिद्ध ही हैं। तथा (न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्' अर्थात् भगवान् वासुदेव के भक्तों का कहीं अशुभ नहीं होता इस प्रकार शास्त्रोक्ति भी इस विषय में प्रमाण है।]

टिप्पणी। (१) श्रीधर—प्रश्न केवल समीचीन (उत्तम) निश्चय कर लेने से ही उसको साधु मानना चाहिए ऐसा कैसे हो सकता है ? इसके उत्तर में कहते हैं—

(सः) क्षिप्रम् धर्मात्मा भवति—(अत्यन्त) दुराचारी भी मेरा भजन करते रहने पर उसकी आत्मा (चित्त) शीघ्र धर्मयुक्त हो जाती है। शश्वत् शान्तिम् निगच्छति—उससे फिर सदा के लिये स्थायी शान्ति को (चित्त के उपप्लव अर्थात् चञ्चलता का उपराम अर्थात् निवृत्ति रूप) शान्ति, जो परमेश्वर में निष्ठा (स्थिति) लाभ करने पर निश्चयरूप से प्राप्त हो जाती है, वह प्राप्त कर लेता है। जो लोग कुतर्क का आश्रय कर कर्कश (कटु) वादी होते है वे यह नहीं मानेंगे, इस प्रकार शंका कर अर्जुन का मन व्याकुल हो सकता है, इस कारण अर्जुन को प्रोत्साहित करने के लिये भगवान् कहते हैं कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! (तुम विवाद करनेवालों की सभा में जाकर ताल, मृदंग और ढोल आदि के महान् शब्द के साथ हाथ उठाकर शंकाशून्य होकर) यह प्रतिज्ञा कर सकते हो कि 'मुझ परमेश्वर का भक्त अत्यन्य दुराचारी होने पर भी उसका प्रणाश (अत्यन्त विनाश या दुर्गति) नहीं होता है बल्कि वह कृतार्थ ही हो जाता है। उसी प्रकार तुम्हारी प्रौढ़ उक्ति से जिनके कुतर्क का नाश होगा वे लोग संशयरहित होकर गुरु भाव से तुम्हारा आश्रय लेंगे।

(२) शंकरानन्द—कृच्छ्र, चान्द्रायण, अश्वमेध आदि तप और कर्मरूप प्रायश्चित कोई सुकुभाव से करने पर भी उनमें यथोक्त देश काल, द्रव्य

मन्त्र-तन्त्र आदि नियमों की यदि किसो प्रकार विकलता न हो, तो शुद्धि होती है। उनमें भी षड्रात्त, द्वादशरात, पक्ष, मास, संवत्सर आदि व्यवधान से जो शुद्धि दीर्घकाल में होनेवाली है वह परोक्ष में होनेवाली शुद्धि है किन्तु मेरे (परमात्मा के) ध्यान से होने वाली शुद्धि ऐसी नहीं है, इस प्रकार भगवान् अब कहते है—

ब्रह्मविद् पुरुष मेरे ध्यान के प्रभाव से शीघ्रम्—परक्षण में ही अर्थात् प्रत्यक् वृत्ति से अपने को अविक्रिय ब्रह्मस्वरूपत्व देखने के समकाल में ही (साथ साथ ही) धर्मात्मा—पुण्यात्मा (शुद्ध) होता है अतः उसमें नियम की अविकलता, काल की दीर्घता और पाप की निवृत्ति की परोक्षता नहीं होती अर्थात् तप या कर्मरूप प्रायश्चित्त नियम की विकलता होने पर फल नहीं देता है एवं फल भी दीर्घकाल के पश्चात् प्राप्त होने के कारण नियम की कोई विकलता हुई कि नहीं वह तत्क्षणात् प्रतीत नही होता है तथा पाप की निवृत्ति भा साक्षात् रूप से देखने में नहीं आती है, अतः वे सब ही परोक्ष हैं, किन्तु ब्रह्म और आत्मा का एकत्वानुभवजनित ज्ञान का फल तो प्रत्यक्ष है, यही कहने का अभिप्राय है। केवल इतना ही नहीं ब्रह्मज्ञान के फलरूप से शश्वत् शान्तिम् निगच्छति—शाश्वती (नित्य शान्ति को (मुक्ति को) प्राप्त होता है अर्थात् पुनरावृत्तिरहित, विदेह मुक्ति को प्राप्त होता है, इस अर्थ के निश्चय करने के लिये 'नि' उपसर्ग का प्रयोग हुआ है। ब्रह्मविद् यति को वीच में यदि कोई दोषविशेष आ जायें तो उनसे मुक्ति प्रतिबद्ध नहीं होतो है (अर्थात् मुक्ति प्राप्ति में कोई विघ्न नहीं होता है) इसे प्रतिज्ञा कर कहते हैं—हे कौन्तेय! मे भक्तः न प्रणश्यति -('ब्रह्म हो मै हूँ' इस ज्ञानयोग के बल से ब्रह्मभावको जो भजता है अर्थात् निरन्तर अनुस्मरण करता है वह भक्त अर्थात् ब्रह्मवित् है।) इस प्रकार मेरा भक्त ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवित् यति प्रणष्ट नहीं होता है अर्थात् मध्य में (बीच में) यदि ब्रह्मनिष्ठा में कोई विघ्नरूप दोष उपस्थित हो भी जाय तथापि वह दुर्गति अथवा दुष्ट योनि को प्राप्त नहीं होता है, किन्तु कोटि कोटि विघ्नों को मेरे अनुग्रह से एवं मेरी निष्ठा से निर्मूल करके (अर्थात् अज्ञान को मूलसहित नाश करके) विदेहमुक्ति को प्राप्त होता ही है, उसमें संशय नहीं है इस अर्थ में प्रतिजानीहि—प्रतिज्ञा करो अर्थात् भगवद्भक्त ब्रह्मवित् कभी नष्ट नहीं होता, ऐसो प्रतिज्ञा करो। मैने तो प्रतिज्ञा करके कहा कि 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' (गीता ९।२२) अर्थात् अपने अनन्य भक्त के योगक्षेम का मैं वहन करता हूँ। अतः एकमात्र ईश्वर की ही शरण जो ब्रह्मविद् पुरुष के लिये हैं उन ब्रह्मनिष्ठों की मुक्ति विघ्नों से प्रतिहत नहीं होती है (नहीं रुकती) यही मुक्त कण्ठ से घोषणा करो।

(३) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती श्लोक में भगवान् ने कहा है कि अत्यन्त दुराचारी व्यक्ति भी यदि पूर्वजन्म की कोई सुकृति के फलरूप से गुरु तथा शास्त्र से "मैं (परब्रह्म सर्वभूतात्मा वासुदेव) ही एकमात्र नित्य एवं सत्य वस्तु हूँ एवं मुझसे अतिरिक्त समस्त दृश्य जगत् मायारचित है, अतः मिथ्या है यह श्रवण कर इस यथार्थ तत्त्व को विचार से संशय रहित होकर निश्चय कर ले तो वह दूसरे पदार्थ के प्रति आसक्त होकर मेरी ही अनन्यभाव से शरण लेगा क्योंकि वस्तुका मिथ्यात्व पूर्णरूप से निश्चित होने पर उस-उस वस्तु के प्रति कोई प्रकार की आसक्ति रहने का सम्भव नहीं हैं। मेरी अनन्य भक्ति ही साधु शब्दवाच्य है अर्थात् वही यथार्थ साधु भक्त (अनन्य भक्त) अति शीघ्र धर्मात्मा होता है। जो सब कुछ धारण करके रखा है वही यथार्थ धर्म है अतः धर्म शब्द से नित्यशुद्ध मुक्त ज्ञानस्वरूप परमात्मा को ही यहाँ सूचित किया गया है। आगे भी ब्रह्म ही शाश्वत (नित्य) 'धर्म' है यह कहेंगे (गीता १४।२७)। अतः जिसकी आत्मा (अन्तःकरण) निरन्तर धर्म में (परमात्मा में) युक्त (समाहित) है, वही यथार्थ धर्मात्मा है। इस प्रकार मेरा अनन्य भक्त शीघ्र धर्मात्मा होकर तत्त्वज्ञान प्राप्त कर शश्वत (नित्य अर्थात् मोक्षरूप) परम शान्ति को प्राप्त होता है। प्रश्न होगा प्रायश्चित्तादि के विना पूर्व दुराचरण रूप पापों की निवृत्ति न होने पर एवं उनसे चित्तशुद्धि न प्राप्त कर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति कैसे सम्भव होती है ? इसका उत्तर गीता में अन्यत्र स्पष्ट रूप से भगवान ने दिया है यथा (१) जो प्रेमपूर्वक मेरा भजन करता हुआ मेरे साथ निरन्तर युक्त रहता है उसका (अर्थात् अपने अनन्यभक्त के) अन्तः करण में स्थित होकर कृपा कर मैं अज्ञानरूप अन्धकार को ज्ञानदीप प्रज्वलित करके नष्ट कर देता हूँ (१०।१०-११)। अतः इससे यही स्पष्ट होता है कि अनन्य-भक्त की चित्तशुद्धि तथा ज्ञान की प्राप्ति प्रायश्चित्तादि के विना एकमात्र भगवान् की कृपा से ही होती है। (२) ज्ञानाग्नि भक्तो के हृदय में प्रज्वलित होने पर सर्वकर्म (अर्थात् भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान काल में कृत समस्त पाप और पुण्यरूप कर्म) भस्मीभूत हो जाते हैं क्योंकि ज्ञान के समान पवित्र करने वाली दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है (गीता ४।३७-३८)। (३) जो सब परित्याग कर एकमात्र मेरी ही शरण लेता है उसको समस्त पापों से मैं ही मुक्त कर देता हूँ (गीता १८।६६)। गीता में इस प्रकार के वचन और भी बहुत है। सारांश यह है कि भगवान् का अनन्यभक्त भगवत् कृपा से स्वतः ही सर्व पापों से मुक्त होकर तत्त्वज्ञान प्राप्त कर, (भगवत् स्वरूप को साक्षात् अनुभव कर), समस्त संसार से उपरमरूप परम शान्ति (मोक्ष) प्राप्त करता

है। अर्थात् उसकी भगवत् प्राप्ति या मुक्ति अवश्यम्भावी है। इस विषय पर कोई संशय का अवकाश नहीं है, यह स्पष्ट करने के लिये भगवान् अर्जुन को कह रहे हैं कि जो अज्ञानी लोग इसे विश्वास नहीं करते हैं उनका सभा में जाकर हाथ उठाकर (अथवा घण्टाध्वनि से) तुम गर्व के सहित प्रतिज्ञा कर घोषणा कर सको कि भगवान् के अनन्य भक्त का कभी विनाश नहीं होता है अर्थात् पहले वह दूराचारी रहने पर भी मेरे प्रति एकान्त भक्ति के प्रभाव से उसकी संसार में पुनः आवागमन रूप दुर्गति नहीं होती है।

[जो लोग आगन्तुक दोष से दोषयुक्त हैं अर्थात् शास्त्रविरुद्ध दुराचारादि कर्मादि के द्वारा दोषयुक्त हुए हैं उनको भी भगवद्भक्ति के प्रभाव से नित्यशान्ति अथवा मोक्ष अथवा मोक्षलाभ होता है, यह पूर्वश्लोक में कहा गया है। वर्तमान श्लोक में जो लोग स्वाभाविक दोष से दोषयुक्त हैं अर्थात् जो लोग जन्मगत अशुद्धि के दोषों से दोषयुक्त हैं (यथा स्त्री, शूद्र इत्यादि) उनकी भी भगवद्भक्ति के प्रभाव से मुक्ति प्राप्त हो सकती है, यही कहा जा रहा है—]।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ३२॥

अन्वय—हे पार्थ! ये पापयोनयः स्त्रियः वैश्याः तथा शुद्राः अपि मां हि व्यपाश्रित्य स्युः ते अपि परां गतिं यान्ति।

अनुवाद—हे पार्थ जो पापयोनि स्त्रियाँ, वैश्य अथवा शूद्रगण मुझे आश्रय करते हैं अर्थात् मेरे शरणागत होते हैं वे भी परम गति (मोक्ष) प्राप्त करते हैं।

भाष्यदीपिका—हे पार्थ! हे अर्जुन, तुम तो शुद्धा तथा भक्तिमती पृथा के (कुन्ति के) गर्भ में जन्मग्रहण किये हो। अतः तुम्हारी जन्मगत पवित्रता तथा अपने शुद्धबुद्धि के हेतु तुम मुझ मोक्षस्वरूप वासुदेवको (परमात्मा को) प्राप्त करोगे, इसमें और संशय क्या है। यही सूचित करने के लिये यहाँ भगवान् ने 'पार्थ' कहकर सम्बोधन किया। ये—जो लोग जिनके जन्म का कारण (पूर्वकृत) पाप हैं पापयोनयः—उन को 'पापयोनि' कहा जाता है अतः "पापयोनयः" शब्द का अर्थ है पापजन्मा। कौन पापयोनि हैं अर्थात् जन्मगत अशुद्ध हैं, यह कहा जाता है—स्त्रियः वैश्याः तथा शूद्राः अपि—स्त्री वैश्य तथा शूद्र पापयोनि हैं। स्त्री तथा शूद्रजाति में

जन्म पूर्व जन्म के पाप को सूचित करता है क्योंकि वे वेदाध्ययन के अधिकार से चंचित होते हैं। जो लोग केवल कृषि प्रभृति में रत रहते हैं उन वैश्यों का भी पूर्वजन्मकृत पापों के फल से वैसे घर में जन्म होता है जिसमें कृषि प्रभृति कर्म के द्वारा अनेक प्राणियों की हिंसा होती है। इसलिए इन तीन जातियों को विशेष कर पापयोनि कहा गया है। 'अपि' शब्द के द्वारा पापजन्मा अन्त्यज (चंडाल) को भी ग्रहण किया गया है एवं इस 'अपि' शब्द के द्वारा यह भी समझाया जा रहा है कि ये स्त्री, वैश्य शूद्र प्रभृति पापजन्मा लोग यदि पूर्वोक्त प्रकार से (गीता ९।३०) अत्यन्त दुराचारी भी हो तो भी मां हि व्यपाश्रित्य स्युः—हि शब्द का अर्थ यस्मात् अर्थात् चूँ कि। चूँ कि वे मुझको (परमेश्वको) विशेषरूप से आश्रय करते हैं अर्थात् परमेश्वर ही मेरी भक्ति के द्वारा प्रसन्न होकर मेरा उद्धार करेंगे इस प्रकार दूसरे का आश्रय त्याग कर परब्रह्म परमेश्वररूप मेरा हो यदि विशेषरूप से शरणापन्न हो तो उस कारण से ते अपि—वे भी परां गतिं यान्ति—(क्रमशः अथवा साक्षात्‌रूप से प्रकृष्ट गति (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं। [भाष्य में 'हि' शब्द का चूँ कि अर्थ में ग्रहण किया गया है किन्तु 'हि' शब्द का प्रसिद्धार्थ में अथवा निश्चितार्थ में भी प्रयोग कर व्याख्या की जा सकती है। स्त्रियों में व्रजगोपी प्रभृति, वैश्यों में तुलाधारादि, शूद्रों में विदुर प्रभृति एवं तिर्य्यग् जाति में जटायु प्रभृति भी मेरे शरणागत होकर दिव्य गति प्राप्त किये थे, यह शास्त्र में प्रसिद्ध है, यही सूचित करने के लिए 'हि' शब्द प्रसिद्धार्थ में प्रयुक्त हुआ है। अथवा 'हि' शब्द को निश्चितार्थ में ग्रहण किया जा सकता है अर्थात् मुझको जो लोग अनन्य भाव से आश्रय करते हैं वे लोग क्रममुक्ति अथवा सद्योमुक्ति प्राप्त करेंगे यह निश्चित है]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—जो मनुष्य सदाचार से भ्रष्ट है उसको मेरी भक्ति पवित्र कर देती है, इसमें विचित्रता क्या है ? क्योंकि मेरी भक्ति तो दुष्ट कुल में उत्पन्न हुए अनधिकारी को भी संसार से मुक्त कर देती है—यह भगवान् कह रहे हैं—

हे पार्थ—हे अर्जुन! ये अपि पापयोनयः स्युः—जो कोई पाप (निकृष्ट) योनि में (कुल में) जन्म लिये हों अर्थात् अन्त्यज (चण्डाल आदि) हों तथा ये अपि वैश्याः स्त्रियः शूद्राः—तथा जो केवल कृषि आदि कार्य में रत रहने वाले वैश्य, स्त्रियाँ अथवा वेदों के अध्ययन आदि से रहित शूद्र आदि हों ते अपि माम् व्यपाश्रित्य—वे भी मेरा आश्रय लेकर अर्थात् मेरा विशेष

भाव से सेवन करके पराम् गतिम् यान्ति हि—निश्चय ही परम गतिको (मोक्ष को) प्राप्त हो जाते हैं। 'हि' शब्द निश्चयार्थ में व्यवहृत हुआ है।

(२) शंकरानन्द—इसप्रकार जिस ब्रह्मज्ञान का उपक्रम (आरम्भ) किया गया है, पूर्व श्लोकोंमें उसके माहात्म्य एवं फल का प्रतिपादन कर अब 'सुसुखं कर्तुमव्ययम्' (गीता ९।२) ऐसा जो कहा था, उसे स्पष्ट कर रहे हैं।

स्त्रियः वेश्याः तथा शूद्राः ये अपि स्युः पापयोनयः—स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र तथा अन्य पापयोनि (नीच जन्मवाले तथा नीच कर्म करने वाले अर्थात् म्लेच्छ पुल्कस आदि) हैं ते अपि माम् व्यपाश्रित्य—सद्गुरु के उपदेश से उत्पन्न हुए ज्ञान से मुझ सोपाधिक या निरुपाधिक परमात्मा का विशेष रूप से आश्रय करके अर्थात् सम्यग् रूप से उपासना करके क्रम से या साक्षात् पराम् गतिम् यान्ति—परम गति को (परम पुरुषार्थको) अर्थात् कैवल्य को प्राप्त होते हैं। हि—'किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खशादयः। येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥ [अर्थात् किरात हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन, खश आदि तथा जो अन्य भी पापी हैं वे जिसके उपाश्रय के (भक्तों के) आश्रय से शुद्ध होते हैं, उस प्रभविष्णु भगवान् को नमस्कार है] इत्यादि शास्त्रप्रसिद्धि स्पष्ट करने के लिये 'हि' शब्द है। शास्त्रज्ञानशून्य स्त्री शूद्र आदि के लिये भी ज्ञान तथा ज्ञान के फल (मोक्ष) की प्राप्ति का प्रतिपादन कर यही सूचित किया गया है कि ज्ञान अति सुलभ है।

(३) नारायणी टीका—पूर्व दो श्लोकों में भगवान् ने कहा कि अत्यन्त दुराचारी व्यक्ति भी यदि भाग्यवश मेरा अनन्यभक्त हो सके तो वह शीघ्र ही धर्मात्मा होकर मोक्षरूप परमशान्ति को प्राप्त होता है। भगवान् ने यह भी कहा है कि मेरे भक्त का कभी प्रणाश (अर्थात् संसारगति) नहीं होता है। यही बात स्पष्ट करने के लिये अब कह रहे हैं कि जिनका वेदादि शास्त्रों के अध्ययन में अधिकार नहीं है ऐसे स्त्री, शूद्र आदि तथा वेदाध्ययनादि में अधिकार प्राप्त होकर भी जो वैश्यलोग कृषि आदि कार्य में (जिससे बहु प्राणियों की हिंसा अनिवार्य है उस कार्य में) निरन्तर व्यापृत (रत) रहते हैं एवं अतिनिकृष्ट चण्डालादि ये सब 'पापयोनि' हैं अर्थात् पूर्व जन्मों के पापों के फलरूप से इस प्रकार योनि (जन्म) प्राप्त होते हैं। तथापि वे यदि एकमात्र मुझ सर्वेश्वर वासुदेव की शरण लेते हैं तो वे भी मोक्षरूप परम गति को प्राप्त होते हैं। [श्लोक में 'अपि' शब्द द्वारा अन्त्यज चण्डाल आदि को सूचित कर रहे हैं।] अब शंका होगी—(१) वेदादि शास्त्रों से ही तुम

सबकी आत्मा एवं महेश्वर हो इस प्रकार तुम्हारा यथार्थ स्वरूप जाना जाता है। स्वरूप जानने के पश्चात् ही प्रेम होता हैं (क्योंकि आत्मा सबके ही प्रिय है), प्रेम से भक्ति एवं भक्ति से मुक्ति होती है यही क्रम है। अतः जो वेदादि शास्त्रों के अनधिकारी हैं, अतः आत्मा का सत्यत्व एवं जगत् का मिथ्यात्व निर्णय करने में असमर्थ हैं (यथा स्त्री शूद्रादि) वे तुम्हारा अनन्यभक्त किस प्रकार से हो सकते हैं? (२) मनुष्य योनि में जन्म तो पाप और पुण्यरूप मिश्रित कर्मों से प्राप्त होता है। जो पापयोनि हैं अर्थात् जिनका पाप ही जन्म का कारण है—पूर्वजन्मकृत पुण्य का लेश भी नहीं है वे तो हिंस्र व्याघ्र आदि अथवा सर्प मशक आदि अति हीनयोनि को प्राप्त होते हैं। यदि केवल पाप कर्मों के फलरूप से स्त्री, वैश्य शूद्रादि के जन्म होते तो उनके लिये परमगति (मोक्षप्राप्ति) किस प्रकार से सम्भव होगी? क्योंकि पूर्वजन्मों की तथा इह जन्मों की सुकृति (पुण्य) के विना कोई भी भगवान का अनन्यभक्त होकर मोक्षलाभ नहीं कर सकता। इसलिये गीता में भी भगवान् ने कहा—'येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्' इत्यादि (गीता ७।२८) अर्थात् जिन पुण्यकर्मा पुरुषों के पाप का अन्त हो गया है, वे ही द्वन्द्वजनित मोह से सर्वथा मुक्त होकर और दृढ़संकल्पवाले होकर मेरा भजन कर सकते हैं। इन शंकाओं का निवारण करने के लिये 'पापयोनि' शब्द का अर्थ इस प्रकार है—पूर्वजन्मों के सञ्चित पापों का आधिक्य रहनेपर ही स्त्री, शुद्र तथा कृषि आदि में रत वैश्य एवं चण्डालादि रूप से मनुष्य योनि (जन्म) प्राप्त होती है किन्तु यदि पूर्व-जन्मों की किसी सुकृति के फल से प्राप्त हुए सद्गुरु या सत्संग के प्रभाव से वे भगवान को ही जीवन का एकमात्र आश्रय मानकर उनमें ही स्थित रहते हैं अर्थात् उनका ही निरन्तर स्मरण करते हुए अनन्यभक्त होते हैं तो वे भी अन्त में परागति (मोक्षस्वरूप मुझको) प्राप्त होते हैं। भगवद्भक्ति के प्रभाव से ही वे तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर संचित, क्रियमाण आदि सभी कर्मों से मुक्त हो जाते हैं। वर्णाश्रम धर्म के नियमानुसार किसी किसी का वेदादि शास्त्रों में तथा वेदविहित कर्मकाण्ड में अधिकार न रहनेपर भी भगवान् के भक्त होने से सभी का समान अधिकार है। अतः अतिनिकृष्ट कुल में जन्म लेने पर भी यदि कोई भगवान् के शरणागत होकर उनका अनन्यभक्त हो जाय तो वह सर्वात्मा परब्रह्म वासुदेव का साक्षात्कार कर संसारगति से मुक्त होगा, इसमें आश्चर्य की बात क्या है? इसलिये भागवत में कहा है—

"किरातहुणान्ध्रपुलिन्दपुलकशा आभीरकंका यवनाः खशादयः।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

अहोबत ! श्वपचोऽतो गरीयान् यजूजिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥"

अर्थात् किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन, खश आदि तथा अन्य जो पापी हैं, वे जिसके उपाश्रय के (भक्त के) आश्रय कर शुद्ध होते हैं, उस प्रभविष्णु भगवान को नमस्कार है। अहो ! भगवद्-भक्ति की अपार महिमा है क्योंकि यदि चण्डाल के भी जिह्वा के अग्रभाग में भगवान का नाम उच्चारित होता रहे तो उसको अभक्त ब्राह्मणादि से भी श्रेष्ठ माना जाता है। जो लोग भगवान् का नाम जपते हैं वे मानों समस्त तप किये हैं, समस्त प्रकार की हवनादिक्रिया किये हैं एवं समस्त वेद अध्ययन किये हैं क्योंकि वेदाध्ययन, तप तथा यागादि कर्मों से जो फल (लौकिक तथा पारलौकिक सुख) प्राप्त होता है उससे भी अधिक फल (अर्थात् मोक्ष या परमशान्ति) भगवान् के नाम के निरन्तर स्मरण से प्राप्त होता है। अनुगीता के १९ वें अध्याय में भी कहा है कि स्वधर्म में निरत ब्राह्मण तथा क्षत्रिय की बात तो दूर की बात है, पापयोनि स्त्री, वैश्य, शूद्र आदि भी यदि इस आत्म-दर्शनरूप धर्म का आश्रय करे तो वे अनायास ही परमगति को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

[ऐसा जब होता है तब—]

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३२ ॥

अन्वय—पुण्याः ब्राह्मणाः राजर्षयः भक्ताः (च) किं पुनः, (अतः) अनित्यम् असुखम् इमम् लोकम् प्राप्य माम् भजस्व ।

अनुवाद—जो लोग जन्म से पवित्र हैं वे ब्राह्मण एवं राजर्षिगण यदि मेरे भक्त हों तब वे मुझको आश्रय कर जो प्रकृष्ट गति (मोक्ष) प्राप्त होंगे इस विषय में और क्या संशय रह सकता है ? (अतः) इस अनित्य सुखहीन मनुष्यलोक को प्राप्त कर मेरा भजन करो।

भाष्यदीपिका—पुण्याः—पुण्य अर्थात् उत्तम योनि में जन्मग्रहण कर जो जन्म से ही सदाचारी हैं, ऐसे—ब्राह्मणाः—ब्राह्मणगण। वेदाध्ययन, तपस्या तथा वैराग्य के द्वारा पुण्यात्मा ब्राह्मणगण अनायास आत्मतत्त्वज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, यही 'पुण्याः ब्राह्मणाः' शब्दों के द्वारा सूचित किया जा रहा है। अतः ब्राह्मणगण एवं राजर्षयः—राजर्षि क्षत्रियगण। [जो

राजा हैं तथा ऋषि भी हैं अर्थात् राजा होकर भी जो आत्मतत्त्व रूप सूक्ष्म वस्तु के विवेक करने में समर्थ होते हैं उनको राजर्षि कहा जाता है। उक्त ब्राह्मण तथा क्षत्रिय राजर्षिगण भक्ताः च-यदि मेरा भक्त होकर अनन्यभाव से मेरे ही शरणागत हों तो—किं पुनः—वे परम गति (मोक्ष) लाभ करेंगे, इसमें तो कहना ही क्या है ? अर्थात् इस विषय में क्या संशय हो सकता है ? [इसके द्वारा कहा गया कि उत्तम कुल में उत्पन्न हुए ब्राह्मण आदि को जब अत्यन्त परागति (सद्योमुक्ति) प्राप्त हो सकता है तब उनलोगों को अनन्य भक्ति से भगवद्भजन अवश्य ही करना चाहिए (आनन्दगिरि)।] अतः जब ऐसा ही होता है अर्थात् भगवद्भजन की महिमा जब ऐसी है तब अनित्यम्—क्षणभंगुर (अतिशीघ्र विनाशशील) एवं असुखम्—सुख से वर्जित (जन्म से मृत्यु तक केवल दुःखमय) इमं लोकं प्राप्य—यह मनुष्य-लोक प्राप्त होकर यह मनुष्य देह सर्व प्रकार के पुरुषार्थ साधन के अनुकूल है। अतः वह अनित्य एवं दुःखमय होने से भी दुर्लभ है (अति कष्ट से प्राप्त किया जा सकता है)। उस मनुष्यत्व को (मनुष्यशरीर को) प्राप्त होकर ('प्राप्य' शब्द का यही तात्पर्य है कि यह दुर्लभ अथच अनित्य मनुष्य देह नष्ट होने के पहले ही किसी प्रकार का विलम्ब न कर—)]

भजस्व माम्—मेरा भजन अर्थात् सेवा करो। मनुष्यदेह से भिन्न अन्य पशु आदि के देह में भगवद्भजन की योग्यता नहीं रहती है, इसलिए मनुष्यत्व (मनुष्य देह) जबतक प्राप्त रहता है तबतक ही मेरा भजन करना सम्भव है। अतः विलम्ब न कर अभी से ही मेरे भजन के लिए प्रयत्न करो क्योंकि यदि वैसा नहीं करोगे तब तुम्हें इस दुर्लभ क्षत्रिय कुल में जन्मग्रहण कर जो देह प्राप्त हुआ है वह निष्फल हो हो जायगा। [यह अध्रुव (अनित्य) सुखरहित मर्त्यलोक (मरणशील देह) प्राप्त कर जागतिक सुख के लिए उद्योग मत करो एवं किसी प्रकार विलम्ब न कर निरन्तर मेरा ही भजन करो, यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—जब यह बात है (अर्थात् जब स्त्री, शूद्र वैश्य भी मेरी भक्ति के प्रभाव से मुक्त हो जाते हैं) तब सत् कुल में जन्म लिये हैं ऐसे सदाचारी मेरे भक्त परमगति को प्राप्त होते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है यही कहते हैं—

पुनः पुण्याः ब्राह्मणाः तथा राजर्षयः भक्ताः किम्—फिर पुण्य कर्म करनेवाले अर्थात् सुकृतिशाली ब्राह्मणगण तथा जो राजा भी हों तथा ऋषि भी हों ऐसे क्षत्रियलोग परमगति को प्राप्त होंगे इसमें तो कहना ही क्या है।

अतः अनित्यम् असुखम् इमम् लोकम् प्राप्य माम् भजस्व—इसलिये तुम इस राजर्षि रूप लोक (देह) को अर्थात् राजर्षि के शरीर के समान इस शरीर को पाकर मेरा भजन करो क्योंकि यह लोक (शरीर) अनित्य और सुख रहित हैं। यह शरीर अनित्य होने के कारण (अर्थात् किसी समय इसका नाश हो सकता है इसलिये) विलम्ब न कर एवं यह सुख से शून्य होने के कारण कोई प्रकार सुख के निमित्त उद्यम (प्रयत्न) न कर केवल मेरा ही भजन करो।

(२) शंकरानन्द—जब श्रवण, मनन आदि के अयोग्य, अक्षरज्ञान से शून्य स्त्री, शूद्र आदि को भी ज्ञान और उसका फल (मोक्ष) सिद्ध होता है तब फिर वेदशास्त्र के अध्ययन में निपुण सद्धर्म में निष्ठावान् ब्राह्मण आदि को ज्ञान और उसका फल प्राप्त होगा, इसमें तो कहना ही क्या है ? यह कैमुतिक-न्याय से ज्ञान का अति सुलभत्व सूचित करते हुए शुद्धात्मा तथा सदसद्विवेक-सम्पन्न ब्राह्मण आदि मुमुक्षु जिससे ज्ञान और उसके फल का सम्पादन करने में प्रवृत्त हों, उसके लिये कहते हैं—

पुण्याः ब्राह्मणाः—उत्तम जातिवाले अथवा पुण्यकर्मवाले अथवा शुद्धात्मा श्रोत्रिय ब्राह्मण तथा राजर्षयः—उसी प्रकार राजर्षिगण (राजाओं में श्रेष्ठ सत् पुरुषों) श्रवण आदि से प्राप्त हुई ज्ञानसम्पत्ति से मेरा भक्त (मेरी निष्ठा से सम्पन्न) होकर परा अर्थात् (निरतिशय आनन्दरूप होने के कारण उत्तम) गति को प्राप्त होते हैं इसमें तो कहना ही क्या है। [ज्ञानेन गम्यते इति गतिः विदेहमुक्तिः अर्थात् ज्ञान से जो प्राप्त होती है वह गति अर्थात् विदेह मुक्ति है।] (प्रश्न) 'पुरुषार्थ' शब्द में बहुव्रीहि समास है या कर्मधारय है या तत्पुरुष है ? बहुव्रीहि और कर्मधारय तो युक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार मानने से अर्थकी संगति नहीं हो सकती। तत्पुरुष समास भी (द्वितीय, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी विभक्ति के साथ तत्पुरुष भी) नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा करने से योग्य अर्थ नहीं होता। और यदि कहो कि 'पुरुष का योग्य अर्थ पुरुषार्थ' इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष उपयुक्त होता है तो वह युक्त नहीं है क्योंकि धर्म आदि में स्त्रियों की योग्यता के अभाव का प्रसंग हो जायगा। इसलिये पुरुष से साध्य अर्थ पुरुषार्थ इस प्रकार समास करना पड़ेगा। इससे मोक्ष में ही पुरुषार्थ शब्द का प्रयोग होगा, धर्म आदि में नहीं क्योंकि धर्म, अर्थ और काम तो स्त्रियों से साध्य हो सकते हैं। 'भर्तृशुश्रूषणं स्त्रीणामग्निहोत्रनिषेवणम्' (भर्ता की सेवा, अग्निहोत्रसेवन स्त्रियों का भी धर्म है) इससे स्त्रियों के स्वधर्म शास्त्रविहित एव साध्य है ही। अतः धर्म की

स्त्रीसाध्यता स्वीकार करना ही पड़ेगा एवं उसी प्रकार अर्थ की और काम की भी स्त्री द्वारा साध्यता है किन्तु मोक्ष की नहीं क्योंकि स्त्रियों के वेद के अध्ययन में तथा वेद के अर्थ विचार करने में योग्यता नहीं है। इस प्रकार शूद्र जाति का भी नहीं है क्योंकि आत्मसाक्षात्कार के उद्देश से श्रवण का विधान है, इसलिये श्रुति कहती है—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः, इत्यादि अर्थात् आत्मा ही देखने योग्य, सुनने योग्य है। और यदि कहो कि स्त्री, शूद्र आदि में वेदान्त के अध्ययन की योग्यता न होनेपर भी श्रवण की योग्यता तो है ही, तो इस प्रकार कहना युक्त नहीं है क्योंकि शास्त्र में कहा है 'मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः' (युक्तियों से मनन करना चाहिए) किन्तु उनमें मनन की शक्ति नहीं है। जिनका पद, वाक्य तथा प्रमाण के सम्बन्ध में ज्ञान है उनको ही वेदान्तविचार और उसके अर्थ का निश्चय करने की सामर्थ्य है, दूसरे पुरुष को नहीं, फिर स्त्रियों की जो सामर्थ्य नहीं होगी इस विषय में कहना ही क्या ? इसलिये पुरुष से साध्य अर्थ पुरुषार्थ है और मोक्ष ही मुख्य पुरुषार्थ है, धर्मादि तो गौण पुरुषार्थ हैं। यदि कहो कि धर्म भी मोक्ष के समान पुरुष से साध्य होने के कारण पुरुषार्थ है क्योंकि 'उदिते सूर्ये प्रातर्जुहोति' (सूर्य का उदय होनेपर प्रातःकाल में हवन करता है), 'अहरहर्यजमानः स्वयमेवाऽग्निहोत्रं जुहोति' (प्रतिदिन यजमान स्वयं ही अग्निहोत्र करता है), 'विद्वान् यजते' (विद्वान् यजन करता है), इन सब श्रुतिवाक्यों से धर्म भी पुरुषार्थ है, यह सूचित होता है, तो कहा जायगा कि यह युक्त नहीं है क्योंकि अग्निहोत्र आदि धर्म का अनुष्ठान स्त्री के साथ करना होता है, इसलिये वे केवल पुरुष से साध्य नहीं है। फिर धर्म का अनुष्ठान ज्ञान की सिद्धि का अंग है अतः मोक्ष ही ज्ञान के साध्य होने के कारण मोक्ष प्रधान है और धर्म गौण है, इसलिये मोक्ष ही पुरुषार्थ है यह सिद्ध हुआ। यदि कहो कि 'स्त्री, वैश्य और शूद्र' का श्लोक में उल्लेख रहने के कारण यह प्रतीत होता है कि स्त्री-शूद्रों के लिए भी ज्ञान की और उनके फल की (मोक्ष की) सिद्धि का प्रतिपादन किया है, तो इस प्रकार युक्ति ठीक नहीं है क्योंकि उस वचन का तात्पर्य यह है कि जब स्त्री-शूद्रों को भी ज्ञान और उसका फल सिद्ध होता है, तब ब्राह्मण आदि को ज्ञान और उसके फल की सिद्धि होगी, इस विषय में तो कहना ही क्या है—इस प्रकार ज्ञान और उसके फल की सुलभता का प्रतिपादनपरत्व ही उस वाक्य का प्रधान उद्देश्य होने के कारण स्वार्थ में (अर्थात् स्त्री-शूद्र को ज्ञान और उसकी सिद्धि में) उसका तात्पर्य नहीं है। अतः स्त्रियों को ज्ञान का अधिकार नहीं है। यदि कहो कि गार्गी, सुलभा

आदि स्त्रियों की और धर्मव्याध आदि शूद्रों की ज्ञानसंपत्ति (अर्थात् वे भी तत्त्वज्ञान को प्राप्त हुए थे ऐसा) सुनने में आता है तो स्त्री-शूद्रों को ज्ञान का अधिकार नहीं है, इस प्रकार कैसे कहा जाता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि धर्मव्याध पूर्वजन्म में ज्ञाननिष्ठ ब्राह्मण होकर ही ब्राह्मण के शाप से शूद्रयोनि में उत्पन्न हुआ और उस शूद्रयोनि में भी पूर्व पुण्य कर्म विशेष से ज्ञानी हो गया था। जिस प्रकार ज्ञानी ब्राह्मण को दुष्कर्मवश से शूद्रयोनि मिलती है, वैसे ही ब्राह्मणों को भी कर्मविशेष से स्त्रीयोनि की प्राप्ति हो सकती है। उन स्त्रियों का भी जो ज्ञान देखने में आता है, वह पूर्व का (पूर्वजन्म का) ही ज्ञान है, आधुनिक (इस जन्म का) नहीं है क्योंकि स्त्रियों को वेदान्त के अध्ययन तथा उसके विचार में अधिकार नहीं है। अतः उक्त युक्तियों से यह सिद्ध होता है कि पुरुष द्वारा साध्य अर्थ पुरुषार्थ मोक्ष ही है। सत् और असत् के विवेक सम्पन्न पुरुष को [अर्थात् जो पुरुष सत् से (नित्य अद्वय शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा से) असत् का (मायारचित दृश्य प्रपञ्च का) विवेक (पृथक्) करने में समर्थ हुआ है उसको] मुमुक्षु होकर पुरुषत्वसिद्धि का सफलता के लिये इस मोक्ष का सत्साधन जो संन्यास है उससे प्रयत्नपूर्वक सम्पादन करना चाहिये, यह समझाने के लिये कहते हैं—अनित्यम्—जो नित्य नहीं है वह अनित्य है। श्रुति में कहा है—'मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना' (हे इन्द्र ! मृत्यु से ग्रस्त यह शरीर मरणशील है)। अतः शरीर मृत्युग्रस्त होने के कारण अनित्य (अनिश्चित स्वभाववाली है) अर्थात् कल तक रहेगी, इस प्रकार विश्वास करने के अयोग्य है। इससे यह सूचित किया जा रहा है कि 'श्वः कार्यमद्य कुर्वीत' (कल जो कार्य करना है वह आज ही करना चाहिए)। इस न्याय से काल का विलम्ब न कर बुद्धिमान को पुरुषार्थसिद्धि के लिए (मोक्ष के लिये) शीघ्र ही प्रयत्न करना चाहिए। किञ्च असुखम्—दुःखात्मक अर्थात् आध्यात्मिक आदि करोड़ों उपद्रवों से ग्रस्त होने के कारण दुःखस्वरूप है। इससे यह सूचित किया है कि यदि देह स्वस्थ भी हो, तब भी मोक्ष के लिए यत्न करना चाहिए। इमम् लोकम् प्राप्य माम् भजस्व—जो देखा जाता है अथवा जो आत्मस्वरूप को प्रकाश करता है वह लोक है अर्थात् मानव देह। इस मुक्ति के साधनरूप देह को प्राप्त करके 'मानुष देह क्षणभंगुर और दुर्लभ है' ऐसा जानकर तीव्र मोक्षेच्छा तथा वैराग्य से मेरा (मुक्ति देने वाले सोपाधिक या निरुपाधिक परमात्मा का) भजन करो अर्थात् श्रद्धाभक्ति से अनुसन्धान (चिन्तन) करो। यदि निर्विशेष स्वरूप के ज्ञान का उपदेश तुम्हें मिला है, तो मुझ निर्विशेष को ही 'महात्मानस्तु' (गीता ९।१३) इससे उक्त

रीति से तुम अभेदबुद्धि से भजो और यदि ऐसा उपदेश नहीं मिला है, तो सोपाधिक ब्रह्म को ही भेदबुद्धि से भजन करो, यही कहने को अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि यदि कोई पूर्वजन्मसञ्चित बहुत पापों के फलरूप से चण्डालादि योनि प्राप्त हो अथवा स्त्री जन्म (अर्थात् वेदाध्ययनादि में अधिकारशून्य निकृष्ट जन्म) प्राप्त हों अथवा केवल कृषि आदि में रत वैश्य जन्म अथवा आचारहीन एवं सर्ववैदिक क्रियाकाण्ड से रहित शूद्र जन्म प्राप्त हों [अतः लौकिक दृष्टि से शास्त्राध्ययनादि तथा वैदिक कर्मों के अभाव के कारण वे परमगति (मोक्ष) प्राप्त होने के अयोग्य प्रतीत हों] तो भी वे सर्वेश्वर मेरे शरणापन्न (मेरे अनन्यभक्त) होने पर निश्चितरूप से परमगति को (मोक्षस्वरूप मुझको) प्राप्त हो सकते हैं। जब उस प्रकार नीचजन्म प्राप्त हुए स्त्री शूद्रादि मेरी भक्ति के प्रभाव से सद्गति को प्राप्त हो सके तो जो पुण्यों के फलरूप से ब्राह्मण जन्म प्राप्त होकर या क्षत्रिय राजा के घर में जन्मग्रहण कर ऋषि (विवेक से सूक्ष्म आत्मतत्त्व को दर्शन करने में समर्थ) होकर मेरा भक्त (अनन्यभक्त) हो गये हैं, वे परमगति को (मोक्षरूप परमशान्ति को) प्राप्त होंगे इस विषयपर संशय क्या हो सकता है ? गीता में कहा है—'सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्' (गीता १४।१७) अर्थात् पुण्यकर्म एवं भगवद्भक्ति के द्वारा चित्तशुद्ध होनेपर (रजोगुण तथा तमोगुण अभिभूत होनेपर) प्रकाशमय सत्त्व-गुण का उदय होता है। सत्त्वगुणयुक्त निर्मल हृदय में तत्त्वज्ञान (आत्म-स्वरूप का ज्ञान) प्रकाशित होता है एवं उसके पश्चात् साधक परमात्मा परब्रह्म के साथ एकत्व अनुभव कर परमशान्ति या परमगति को प्राप्त होता है। केवल पुण्य कर्मों से ही यह अवस्था प्राप्त नहीं होती है किन्तु जगत् का मिथ्यात्व तथा एकमात्र आत्मा का सत्यत्व निश्चय करने के पश्चात् आत्मस्वरूप भगवान् में जो, ऐकान्तिक प्रेम या अनन्यभक्ति का स्वतः ही उदय होता है, उस भक्ति के प्रभाव से ही यह सम्भव होता है। इसलिए श्लोक में 'पुण्याः' तथा 'भक्ताः' इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है—ये दोनों ही ब्राह्मण तथा राजर्षि का विशेषण हैं अर्थात् पुण्यकर्मों के साथ भगवद्भक्ति से युक्त रहने पर मोक्षप्राप्ति अनायास तथा सुखकर होती है। ३२ तथा ३३ वें श्लोकों में यही भगवान् स्पष्ट कर रहे हैं कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय कुल में जन्म पूर्वजन्मकृत पुण्यों के फल से हो प्राप्त होते हैं किन्तु यदि इसप्रकार जन्म प्राप्त कर भी ब्राह्मण अपना आश्रमविहित पुण्य कर्मादि का अनुष्ठान करे और क्षत्रिय भी हिंसादि युक्त युद्धादि कर्म करते रहे किन्तु ब्रह्मस्वरूप आत्मतत्त्व का

विचार कर ब्राह्मण यदि ब्रह्म को नहीं जान सके और क्षत्रिय भी संसाररूप क्षत से अपना त्राण करने के लिये सूक्ष्म आत्मतत्त्व को देखकर ऋषि न हो सके (अर्थात् आत्मस्वरूप भगवान् का अनन्य भक्त नहीं हो सके) तो वे भी परमगति प्राप्त नहीं कर सकेंगे। और यदि कोई पुण्यकर्मों से शून्य भी हो (यथा स्त्री शुद्र आदि) किन्तु अनिर्वचनीय कारण से भगवान् के अनन्यभक्त हो जाय तो वे भी भक्ति की महिमा से परमगति (मोक्ष) को प्राप्त कर लेंगे। क्योंकि भक्ति से जिस प्रकार अनायास ही सर्वात्मा भगवान्के स्वरूप का ज्ञान तथा साक्षात्कार होता है उस प्रकार कोई याग, यज्ञ वेदाध्ययन तप आदि से नहीं होता है, यही भगवान् अपने मुख से अनेक वार कहे हैं (गीता ८।२२ ११।५३-५४, १८।५५, ६५,)।

मनुष्य देह में ही विवेक, विचार, प्रेम, भक्ति आदि सम्भव है। अतः मनुष्यदेह में ही आत्मस्वरूप भगवान् भक्ति से प्रकट (प्रकाशित) होता है, अन्य पशु प्रभृति के देह में ऐसा सम्भव नहीं है। इसलिये मनुष्य-देह को 'लोक' कहा जाता है [लोक्यते अनेन अर्थात् जिसके द्वारा परमात्मा प्रकाशित होता है उसे लोक कहते हैं।] भगवान् कह रहे है 'इमं लोकं प्राप्य' अर्थात् इस प्रकार परमगति की अर्थात् परमपुरुषार्थरूप मोक्षकी सिद्धि के साधनस्वरूप इस मनुष्य देह को प्राप्त कर भी यदि मनुष्य जीवन के जो चरम उद्देश्य है सर्वदुःख की निवृत्ति एवं नित्य परमशान्तरूप भगवान् की प्राप्ति, ...वह यदि सिद्ध नहीं है तो यह जीवन निष्फल ही होगा। इस देह के ही सुख के लिये एवं इस देह को नित्य रखने के लिये जो लोग प्रयत्न करते हैं वे तो अज्ञान से मोहित होकर उक्त चरम उद्देश्य से च्युत होकर 'मोघाशाः मोघकर्माणः एवं मोघज्ञानाः' ही होते हैं (गीता ९।१२) अर्थात् उनका जीवन विफल ही होता है क्योंकि यह देह अनित्य है एवं असुख अर्थात् दुःखमय है (जरा, व्याधि तथा मृत्यु से आक्रान्त है) और इस देह से भगवान् के विना और जो कुछ जागतिक वस्तु प्राप्त होती है वह भी अनित्य (क्षणस्थायी, विनाशशील) है तथा विवेकदृष्टि से दुःखस्वरूप ही है। [पातञ्जल योगशास्त्र में इसलिये कहा है—'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' अर्थात् विवेकशील पुरुष के लिये विषयमात्र ही दुःख देनेवाला है क्योंकि भोग के परिणाम से उत्तरोत्तर तृष्णा की वृद्धि होती है, भोग के समय मन में ताप की सृष्टि होती है क्योंकि जो भोग में बाधा डालते हैं उनके प्रति द्वेषभाव का उदय होता है एवं भोग करने के पश्चात् क्रमशः भोग के संस्कार की वृद्धि ही होती है तथा चित्त को, गुणों के

परिणामरूप से सुख दुःख एवं मोहरूप परस्पर विरोधी वृत्तियाँ बदलती रहती हैं। अतः किसी प्रकार से विषय भोग से शान्ति की आशा नहीं है।] अतः विषयभोग के लिये प्रयत्न न कर केवल मेरा ही भजन कर (भजस्व माम्) एवं मुझे प्राप्त कर जीवन को सफल करो।

"अनित्यमसुखम् इमं लोकं प्राप्य" वाक्य से भगवान् यह भी निर्देश कर रहे हैं कि यह देह 'अनित्य' है अर्थात् किस समय इसकी मृत्यु होगी उसका कोई पता नहीं है। अतः क्षणभर के लिये भी विलम्ब न कर सर्व विषयों से मनको निवृत्त कर (हटाकर) मुझमें स्थित रहने के लिये प्रयत्न करो क्योंकि इस प्रकार अभ्यास करने से ही तुम मृत्यु के पश्चात् परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होओगे। फिर यह देह 'असुख' (सुखरहित अर्थात् निरन्तर रोग शोक जरा के अधीन) है। अतः देह का सुखसम्पादन कर तब तुम मेरा भजन करोगे इस प्रकार की यदि मनकी वासना हो तो वह दुर्वासना है क्योंकि देह स्वरूपतः दुःख की खान है। अतः देह के सुख की अपेक्षा न कर कालविलम्ब (देर) न कर अभी से मेरा भजन शुरू करो—यह कहने का अभिप्राय है।

[पूर्वश्लोक में कहा गया है 'भजस्व माम'—मेरा भजन करो। अब कैसे भगवद्भजन करना चाहिये यह कहकर अध्याय का उपसंहार कर रहे हैं-]

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

अन्वय—मन्मनाः भव, मद्भक्तः (भव) मद्याजी (भव) मां नमस्कुरु, एवं युक्त्वा मत्परायणः सन् आत्मानम् एव एष्यसि।

अनुवाद—मुझमें मन समर्पण करो, मेरे भक्त होओ मुझको ही यज्ञादि अथवा बाह्य वस्तुओं के द्वारा पूजा करो एवं मुझको नमस्कार करो। इस प्रकार (सर्वदा) मुझमें ही मन युक्त (समाहित) रखकर मत्परायण होकर (अर्थात् सच्चिदानन्द पर ब्रह्म वासुदेव ही परम (सर्वोत्कृष्ट) प्राप्य वस्तु है, यह जानकर) आत्मस्वरूप मुझको ही प्राप्त होओगे।

भाष्यदीपिका—मन्मनाः भव—जिसका मन मुझमें ही (परमेश्वर में ही) समर्पित रहता है उसको 'मन्मना' कहा जाता है। ऐसा (मन्मना) होओ अर्थात् पुत्र कलत्रादि अथवा विषयों में मन नहीं रखकर मुझमें ही मन सदा समर्पित रखो (गीता १२।८ श्लोक देखो)। मद्भक्तः भव—मेरे भक्त होओ। धन आदि के प्रार्थी होकर राजादि का भक्त नहीं होकर परम कल्याण (मोक्ष) प्राप्ति के लिए मेरे ही भक्त होओ (मेरा ही प्रेमपूर्वक

निरन्तर स्मरण करो)। प्रश्न होगा 'मन्मना' होने से ही तो 'मद्भक्त' भी होगा, अतः इन दो शब्दो के प्रयोग करने से तो पुनरुक्ति दोष हो गया है ? उत्तर में कहा जा सकता है कि नहीं, राजा का भृत्य राजभक्त (राजा का सेवक) होने पर भी उसके मनका ध्यान रहता है उसके पुत्रादि में किन्तु पुत्र में मनवाला होने पर भी वह पुत्र आदि का भक्त नहीं होता है। अतः 'मन्मना' होने से ही जो 'मद्भक्त' होगा ऐसा नहीं कहा जा सकता है। सभी बाह्य विषयों से मन को उपरत (निवृत्त) कर मुझ भगवान् में ही मन समर्पित रखने से 'मन्मना' (ईश्वरार्पित चित्त) होता है और भगवान् को ही आत्म-बुद्धि से अर्थात् ब्रह्माकारा चित्तवृत्ति से निरन्तर प्रेमपूर्वक स्मरण करने से 'मद्भक्त' (भगवद्भक्त) होता है। (गीता १२।९ श्लोक द्रष्टव्य) मद्याजी—मेरा ही यजन (पूजन) करनेवाला होओ (स्वर्गादि प्राप्ति के लिए इन्द्र वरुणादि देवता के नहीं)। यद्यपि 'देवतामुद्दिश्य द्रव्यत्यागो यागः' अर्थात् देवता के उद्देश्य से द्रव्यत्याग को याग कहा जाता है तथापि यजन शब्द का अर्थ जो केवल यज्ञादि क्रिया है वह बात नहीं क्योंकि 'यज् देवतापूजायाम्' (धातुपाठ १।१०२७) ऐसा पाठ रहने के कारण पूजा अर्थ में भी यजन शब्द व्यवहृत होता है। द्रव्यत्याग के विना ज्ञान-यज्ञ के द्वारा भी यजन होता है (गीता ९।१५ देखो) वाक्य के द्वारा भी यजन अथवा पूजा होती है, जिस प्रकार महाभारत में कहा गया है 'कृष्णो वाक्यैरिष्यते' (म० भा० १३। १८।६)। अतः मद्याजी शब्द का अर्थ यह है कि जब 'मन्मना' नहीं हो सकोगे अर्थात् मन जब मुझ में निविष्ट नहीं रख सकोगे तब यज्ञादि क्रिया के द्वारा अथवा बाह्य उपकरण के द्वारा (स्रक् चन्दनादि धूप, दीप, नैविद्यादि के द्वारा) अथवा वाक्य (स्तुति प्रभृति के द्वारा) अथवा भावना के द्वारा (ज्ञान-यज्ञादि के द्वारा) सर्वात्मा परमेश्वर मेरी ही (अन्य किसी की नहीं) पूजा करो (गीता १२।१० श्लोक देखो)। मां नमस्कुरु—मुझ परमेश्वर को (काय, मन तथा वाक्य से) नमस्कार करो। नमस्कार आत्मसमर्पण अथवा परिपूर्ण दासत्वस्वीकार का लक्षण है। कर्तृत्वाभिमान तथा कर्मफल भगवान् में समर्पण नहीं करने से यथार्थ नमस्कार नहीं होता है। जब मन मुझ में निविष्ट नहीं कर सकोगे प्रयोजनीय द्रव्यादि संग्रह करने में असमर्थ होकर मेरा यजन अथवा पूजन नहीं कर सकोगे तब मैं ही सर्वमूर्ति में सर्वत्र विराजमान हूँ (वासुदेवः सर्वमिति) ऐसी भावना के द्वारा भक्तिपूर्वक काय, मन तथा वाक्य से मुझको नमस्कार करो।'

['सियाराममय सब जग जानि।
करहु प्रणाम जोड़ि युग पाणि॥'

इस प्रकार से नमस्कार करो, यही कहने का अभिप्राय हैं (गीता १२।११ श्लोक द्रष्टव्य है)]। एवं युक्त्वा—इस प्रकार कभी ध्यान के द्वारा मुझमें मन निविष्ट रखकर, कभी भक्ति के द्वारा अर्थात् प्रेमपूर्वक मुझको स्मरण कर, कभी बाह्य उपकरण अथवा मानसिक भाव के द्वारा मेरी पूजा कर अथवा कभी सर्वात्मा मुझको सर्वरूप में सर्वत्र नमस्कार कर मुझमें ही युक्त होकर अर्थात् मुझमें ही चित्त सदा समाहित रखकर एवं मत्परायणः सन्—मैं ही सर्वभूत की आत्मा हूँ एवं मैं ही सर्वभूत के परम (सर्वोत्तम) अयन अथवा गति (प्राप्तव्य स्थान) हूँ ऐसा जानकर (एकमात्र मेरी ही शरण लेकर) आत्मानम् माम् एवम् एष्यसि – ('मैं ही अखंडद्वय ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान प्राप्त कर) प्रत्यगात्मस्वरूप मुझको ही (सर्वोपाधिशून्य शुद्धचैतन्यस्वरूप मुझको ही) प्राप्त होओगे। घट भग्न होने से जिस प्रकार घटाकाश महाकाश में मिलकर अभिन्नरूप से महाकाश भाव प्राप्त होता है उस प्रकार (तुम) जीवात्मा तथा परमात्मा का एकत्वानुभव कर ब्रह्माद्वैतभाव को प्राप्त होओगे। श्रुति में भी इसलिए कहा गया है—'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामारूपाद्विमुक्तः परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम् (मु० उ० ३।२।८) अर्थात् नदियाँ समुद्र की ओर प्रवाहित होकर अन्त में नामरूप का त्यागकर समुद्र में ही निमग्न हो जाती हैं अर्थात् वे समुद्र ही हो जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान् व्यक्ति भी (तत्त्वज्ञानी भी) अविद्याकृत नाम तथा रूप से विमुक्त होकर पर (अक्षर) से भी श्रेष्ठ दिव्य (स्वयंप्रकाश) पुरुष को (परमात्मा को) प्राप्त होता है अर्थात् परब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। यहाँ 'प्राप्ति' शब्द का अर्थ यह नहीं कि किसी बाह्य वस्तु के समान ब्रह्म की प्राप्ति होती है किन्तु जिस प्रकार कण्ठ में हार विद्यमान रहने पर भी असावधान व्यक्ति उसे भूलकर (अज्ञानवश) जहाँ तहाँ उसका अनुसन्धान करता रहता है एवं बाद में ज्ञान होने से वह प्राप्त हुआ है ऐसा समझता है परन्तु वह हार पहले जहाँ था अब भी वहीं है, उसी प्रकार अज्ञानवश जीव अनादि काल से नित्यशक्ति (परमानन्द) को प्यासा होकर ढुंढ़ रहा है एवं अनेक जन्मों की सुकृति के फलस्वरूप से जब 'मन्मना मद्भक्त मद्याजी' होकर मुझे सर्वत्र नमस्कार करता है' एवं इन उपायों से मुझमें चित्त को समाहित करने में समर्थ होता है तब जान सकता है कि जिस परमानन्द का अनुसन्धान इतने दिनों से वह कर रहा था वह बाहर में नहीं है—वह उसकी अन्तरात्मा के रूप से सदाही विद्यमान है अर्थात् वह उसका अपना 'मैं' है। इतने दिनों की अज्ञान की निवृत्ति होकर इस ज्ञान के उदय को ही 'प्राप्ति' कहा जाता है अर्थात् आत्मा नित्य ही प्राप्त है, उसको भूल जाना ही 'अप्राप्ति' है एवं उसको जानना ही ('वह मैं हूँ' ऐसा ज्ञान होना ही) प्राप्ति है।

[श्रीगोविन्दपदारविन्दमकरन्दास्वादशुद्धाशयाः ।
संसाराम्बुधिमुत्तरन्ति सहसा पश्यन्ति पूर्णं महः ॥
वेदान्तैरवधारयन्ति परमं श्रेयस्त्यजन्ति भ्रमम् ।
द्वैतं स्वप्नसमं विन्दन्ति विमलां विन्दन्ति चाऽऽनन्दताम् ॥

अर्थात् जिनके चित्त गोविन्द के चरणकमल पराग का आस्वादन करके शुद्ध हो गये हैं वे सहसा संसारसमुद्र को पार कर लेते हैं और परिपूर्ण प्रकाश का साक्षात्कार करते हैं । वे वेदान्तवाक्यों द्वारा परम श्रेय का निश्चय करते हैं और भ्रम को त्याग देते हैं तथा द्वैत को स्वप्न के समान जानते हैं और विशुद्ध आनन्द का अनुभव करते हैं । (मधुसूदन)] ।

टिप्पणी । (१) श्रीधर—पूर्वश्लोकोक्त भजन किस प्रकार करना होगा ? यह दिखाते हुए उपसंहार करते हैं—मन्मनाः, मद्भक्तः, मद्याजी भव—मुझमें जिसका मन स्थित है वह 'मन्मना' है । इस प्रकार मन्मना होओ तथा मेरा भक्त (सेवक) होओ एवं मेरी पूजा करने के स्वभाव प्राप्त होओ । मां नमस्कुरु—और मुझे ही नमस्कार करो । एवं मत्परायणः (सन्) आत्मानम् (मयि) युक्त्वा माम् एव एष्यसि—इन सब प्रकारों के द्वारा मेरे परायण होकर मुझमें आत्मा को (अर्थात् मन को) युक्त (स्थिर) कर के मुझ परमेश्वर को ही प्राप्त होओगे ।

निजमैश्वर्यमाश्चर्यं भक्तेश्चाद्भुतवैभवम् ।
नवमे राजगुह्याख्ये कृपयावोचदच्युतः ॥

अच्युत [जो अपने स्वरूपसे कभी च्युत (विचलित) नहीं होता है ऐसा] भगवान ने आश्चर्यमय निज ऐश्वर्य का तथा भक्ति का अद्भुत प्रभाव राजगुह्य नामक नवम अध्याय में कृपापूर्वक वर्णन किया है ।

(२) शंकरानन्द—मैं (अर्जुन) निर्विशेष ज्ञान का अधिकारी नहीं हूँ । अतः सोपाधिकस्वरूप तुम्हारा भजन कैसे करना चाहिए ? इसके उत्तर में कहते हैं—

मन्मनाः भव—'भूतानि विष्णुः' (सब भूत विष्णु हैं) इस न्याय से सर्वात्मक मुझमें जिसका मन लग्न है, वह 'मन्मना' है । तुम इस प्रकार मन्मना होओ अर्थात् वासुदेव (परब्रह्म) ही सब है इस प्रकार समस्त जगत् सदा मेरा स्वरूप है ऐसी भावना करो । अथवा 'मनो मोक्षे निवेशयेत्' (मन मोक्ष में लगाओ) इस स्मृतिवचन के अनुसार मोक्षस्वरूप आनन्दस्वरूप तथा आत्मस्वरूप मुझमें मन को सम्यक् प्रकार से स्थापित कर के मन्मना होओ अर्थात् केवल मोक्षरूप पुरुषार्थ में अत्यन्त आसक्त मनवाले होओ (धर्म के

फलरूप से जो अर्थ एवं काम सिद्ध हो सकते हैं, उनमें आसक्त न होओ। इस प्रकार भगवान् मुमुक्षु को केवल मोक्ष के लिये ही कामना करनी चाहिए, ऐसा कहकर उसके लिये क्या कर्तव्य है उसे कहते हैं—**मद्याजी भव**—श्रौत और स्मार्त कर्मों से मुझ परमेश्वर का ही यजन करने का जिसका शील (स्वभाव) है, वह मद्याजी है। इस प्रकार मद्याजी होओ अर्थात् सर्व कर्मों से मेरी ही पूजा करो। कर्म करते हुए अग्नि आदि देवताओं में भेदबुद्धि नहीं करनी चाहिए किन्तु 'सर्वत्र मैं (परमेश्वर) ही विद्यमान हूँ' इस प्रकार बुद्धि से सदा युक्त रहना चाहिए, इस आशय से कहते हैं—**मद्भक्तः भव**—ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' (गीता ४।२४) इस न्याय से द्रव्य (हवन सामग्री), यजन, यजमान तथा याग सब ब्रह्म ही हैं, इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मस्वरूप मुझमें बुद्धि को युक्त रखकर सदा जो मुमुक्षु मुझको भजता है, वह मेरा भक्त है, तुम मेरे भक्त होओ अर्थात् सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि करो **मां नमस्कुरु**—उसी प्रकार 'वासुदेव ही सब है' ऐसा मुझको सभी का स्वरूप मान कर नमस्कार करो, इस लिये स्मृति में (भागवत में श्रीकृष्ण–उद्धव सम्वाद में) कहा है—'प्रणमेत् दण्डवद् भूमौ आश्वगोखरचण्डालम्' अर्थात् कुत्ता, चण्डाल, गाय और गदहे तक को भूमि में दण्डवत् होकर प्रणाम करो। अथवा 'माता, पिता, गुरु, देवतादि रूप में मैं ही स्थित हूँ' इस प्रकार की बुद्धि से प्रणाम करो। किञ्च **मत्परायणः भव**—मैं ही परम अयन (गति) जिसकी हूँ अर्थात् जो सर्वावस्था में परमेश्वर ही मेरी गति है ऐसा निश्चय करता है, वह मत्परायण है। तुम भी इस प्रकार बुद्धि से मेरी शरण लो। अथवा जो मेरी प्रीति के लिए लौकिक तथा वैदिक सर्व कर्म करता है, वह मत्परायण है। अतः तुम भी ऐसा होओ। **एवं युक्त्वा**—मत्परायण होकर योग कर के (कर्मयोगानुष्ठान से मेरी उपासना कर के) अन्त में **आत्मानं माम् एव एष्यसि**—मुझ परमात्मस्वरूप परब्रह्म को ही (क्रम से) प्राप्त होओगे अर्थात् विदेह कैवल्यसुख को प्राप्त होओगे।

(३) **नारायणी टीका**—इस श्लोक में भगवद् प्राप्ति के जो उपाय निर्दिष्ट किया गया है, १२ वें अध्याय के ८–११ श्लोक में भी वही दूसरे शब्दों में कहा जायगा। आत्मस्वरूप भगवान को प्राप्त करने का प्रधान उपाय है—**उनका निरन्तर अनुस्मरण**। इस लिए गीता में अन्यत्र भी कहा गया है **'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर'** (गीता–८।७) अर्थात् सदा ही मुझको अनुस्मरण करो। केवल "भगवन्मनाः" (परमात्मा में ध्याननिष्ठ) होने से ही भगवद्प्राप्ति होगी ऐसी कोई बात नहीं है। ध्यान के द्वारा, भक्ति के द्वारा पूजन के द्वारा अथवा सर्वतोरूप से नमस्कार द्वारा उनका शरणपात्र होने से ही उनका अनुसरण चलता रहता है अर्थात् मन अन्य सब कुछ त्याग कर

उनकी ही चिन्ता में निमग्न रहता है। इस प्रकार का चित्त सर्वपापों से मुक्त हो जाता है एवं तत्त्वज्ञान प्राप्त कर 'सर्वात्मा परब्रह्म ही मैं हूँ' इस प्रकार जान कर) ब्रह्मस्वरूप हो जाता है क्योंकि 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' (मु० उ० ३।२।९)। यही 'मन्मनाः भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु' इत्यादि वाक्य का तात्पर्य है।

श्लोक का तात्पर्य इस प्रकार से भी निर्णय किया जा सकता है—

'मन्मना' शब्द के द्वारा ज्ञानयोग, 'मद्भक्त' शब्द के द्वारा भक्तियोग, 'मद्याजी' शब्द के द्वारा कर्मयोग एवं 'नमस्कुरु' शब्द के द्वारा आत्मसमर्पण योग समझाया जा रहा है। इनमें से प्रत्येक उपाय के द्वारा परमात्मा में चित्त समाहित हो सकता है. यदि परमात्मा को ही परमगति के रूप से कोई निश्चय करें। यही 'युक्त्वैवं मत्परायणः' शब्द का अभिप्राय है। चित्त समाहित (समाधिस्थ होने से) कल्पनाजात दृश्य जगत् लुप्त हो जाता है एवं माया का विक्षेप तथा आवरण शक्ति नष्ट होने के कारण जो नित्य सत्य परमार्थ वस्तु है (शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा है) वह पूर्णरूप से प्रकाशित होता है। इसको ही भगवद्-प्राप्ति कहा जाता है एवं श्लोक में 'मामेवैष्यसि' शब्द के द्वारा यही समझाया जा रहा है। इनमें 'मन्मना' होने से अर्थात् ज्ञानयोग के द्वारा साक्षात्‌रूप से भगवत्‌स्वरूप का अनुभव होता है एवं भक्तियोग, कर्मयोग एवं नमस्कार रूप आत्मसमर्पण योग द्वारा पहले चित्तशुद्धि प्राप्त कर बाद में चित्त समाहित होनेपर तत्त्वज्ञान के द्वारा आत्मसाक्षात्कार द्वारा भगवत् प्राप्ति होती है। प्रश्न है केवल नमस्कार के द्वारा किस प्रकार से भगवत् प्राप्ति हो सकती है ? इसके उत्तर में श्रीमद्भागवत में भगवान् स्वयं उद्धव को कहते हैं कि भगवत् प्राप्ति के जितने उपाय वेदान्तादि शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं उनमें से सर्वभूत में एकमात्र भगवान् ही विराजमान है, ऐसी भावना से देह, वाणी, मन तथा एक एक चित्तवृत्ति के द्वारा सर्वत्र भगवान् को नमस्कार करना ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है—

'नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहंकारा वियन्ति हि॥
विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद्दंडवद् भूमावाश्वचांडालगोखरम्॥
यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः॥
सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययात्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥
अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥

(भागवत ११।२९।१५-१९)

[अर्थात् जब निरन्तर सभी नर-नारियों में मेरी ही भावना की जाती है, तब थोड़े हि दिनों में साधक के चित्त से स्पर्द्धा (होड़), ईर्ष्या, तिरस्कार और अहंकार आदि दोष दूर हो जाते हैं। अपने ही लोग यदि हँसी करें तो करने दे, उनकी परवाह न करे। 'मैं अच्छा हूँ, वह बुरा है' ऐसी देहदृष्टि को और लोकलज्जा को छोड़ दे और कुत्ते, चाण्डाल, गौ एवं गधे को भी पृथ्वी पर गिरकर साष्टांगदण्डवत् प्रणाम करे। जबतक समस्त प्राणियों में मेरी भावना भगवद्भावना न होने लगे, तबतक इस प्रकार से मन, वाणी और शरीर के सभी संकल्पो और कर्मों द्वारा मेरी उपासना करता रहे। उद्धवजी ! जब इस प्रकार सर्वत्र आत्मबुद्धि का (ब्रह्मबुद्धि का) अभ्यास किया जाता है, तब थोड़े ही दिनों में उसे ज्ञान प्राप्त होकर सब कुछ ब्रह्मस्वरूप दीखने लगता है। ऐसी दृष्टि हो जानेपर समस्त संशय अपने आप निवृत्त हो जाते हैं और वह सर्वत्र मेरा साक्षात्कार करके जागतिक विषयों से उपराम हो जाता है। मेरी प्राप्ति के जितने साधन हैं, उनमें मैं तो सबसे श्रेष्ठ साधन यही समझता हूँ कि समस्त प्राणियों और पदार्थों में मन, वाणी और शरीर की समस्त वृत्तियों से मेरी ही भावना की जाय।]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥



AL CHINMAYA MISSION TRUST BOOKS DEPT.

PRICE LIST

Books & Cassettes (Effective from 1.1.1983)

9. Bala Vi
10. Bhaja
11. Dhyana
12. Geeta
13. Geeta
14. —d
15. —d
16. —d
17. —d
18. —d
19. —d
20. —d
21. —d
22. —d
23. —d
24. —d
25. —d
26. —d
27. —d
28. —d
29. —d
30. —d
31. Geeta
32. —d
33. —d
34. —d
35. —d
36. —d
37. —d
38. Guidan
39. Holy G
40. —do—
41. Hymn
42. Hymn
43. Himava
44. I Love
45. Isavasy
46. Iswara
47. Kaivaly
48. Kathop
49. Kenopa
50. Kindle

16. RAMBER (Tamil) 50.00
15. Hanuman Chalisa 18.00

ishad	12.00
	4.00
aking	16.00
eeta	25.00
	10.00
atam	17.00
anam	20.00
uide I	4.00
uide II	4.00
dam	12.00
as	2.00
ildren	12.00
er I	12.00
II	12.00
III	7.00
IV	7.00
V	7.00
VI	7.00
VIII	7.00
VIII	7.00
IX	7.00
X	7.00
XI	7.00
XII	7.00
XIII	7.00
XIV	7.00
	7.00
	7.00
I	7.00
III	12.00
r III & IV	12.00
V & VI	12.00
VII, VIII & IX	12.00
X & XI	12.00
XII & XIII	12.00
XIV & XV	12.00
XVI & XVII	12.00
m Guru	3.00
-Big size	70.00
ket size	25.00
shinamurthy	12.00
ga	10.00
uti	5.00
	4.00
shad	14.00
an	25.00
shad	10.00
d	17.00
d	16.00
	14.00
Karika	25.00
Life	15.00
shad	14.00
	5.00
Sutra	19.00
d	15.00
	8.00
m	4.00
akam	3.00
issionary	12.00

63.	Tattwa Bodh	6.00
64.	Tell Me a Story Part I	5.00
65.	—do— II	5.00
66.	—do— III	5.00
67.	Tune in Mind	3.00
68.	Tarangini I	6.00
69.	—do— II	6.00
70.	—do— III	5.00
71.	—do— IV	5.00
72.	—do— V	3.00
73.	—do— VI	3.00
74.	—do— VII	3.00
75.	—do— VIII	5.00
76.	—do— IX	3.00
77.	—do— X	3.00
78.	—do— XI	3.00
79.	Vakya Vritti	9.00
80.	Vedanta the Science of life I	25.00
81.	—do— II	30.00
82.	Vishnusahasranamam	14.00
83.	Vivekachoodamani	33.00
84.	Wandering in the Himalayas	16.00
85.	We Must	4.00
86.	Children's Drama	10.00
87.	My Trek through Utterkhand	18.00
88.	Our Heritage Part I	7.00
89.	—do— Part II	6.00
90.	—do— Part III	10.00
91.	—do— Part IV	4.00

HINDI

1.	Atma Bodha	5.00
2.	Bala Geeta	8.00
3.	Bhajagovindam	3.00
4.	Drik Drisya Viveka	5.00
5.	Gangotri Mahima	3.00
6.	Jeevan Jyothi	7.00
7.	Manava Nirmana Kala	10.00
8.	Mudakopanishad	6.00
9.	Narada Bhakti Sutra	5.00
10.	Prasnopanishad	4.00
11.	Purusha Sooktam	2.00
12.	Upadesa Saram	5.00
13.	Holy Geeta	40.00
14.	Kathopanishad	10.00

CASSETTES

1.	Art of Manmaking (a set of 18 cassettes)	30.00
2.	Bhagavad Geeta Chanting (per set of 4 cassettes)	120.00
3.	Vedic Chanting I	30.00
4.	—do— II	30.00
5.	—do— III	30.00
6.	Bhajagovindam	30.00
7.	Stotram & Bhajans	30.00
8.	Indivisible Truth	50.00
9.	Rudram & Chamakam	30.00
10.	Chinmany Bhajans	30.00
11.	Selected Geeta Chanting	30.00
12.	Bhakti Manjari	30.00
13.	Talk on Adi Sankara	30.00